



“शिशु और सखी” में श्री के० एम० मुन्शी ने अपनी तीव्र प्रेगानुभूति और अद्वितीय प्रतिभा के द्वारा पक्क लेकर और इस रहस्य की गुहा में प्रवेश पा, उसके भीतर से अनेक नवीन तत्वों की खोज की है।

नारी सौदर्य है, आकर्पण है, रस है, प्रेरणा है, पर मनुष्य प्रत्येक नारी के प्रति आकर्पण का अनुभव नहीं करता। यह क्यों? किसी का संपर्क हमारे जीवन में कुछ पलों के लिये केवल कुछ लहरों का ही संचार कर पाता है, तो कोई अपने आलोक से जीवन के गांभीर्य में बस जाता है; यह क्यों? किसी का वर्णों का संपर्क भी परिचय ही बना रहता है पर किसी का लग्न भर का परिचय जीवन भर का संपर्क बन जाता है, बंधन बन जाता है यह क्यों? कोई इमारे शरीर के तार ही झँकूत कर पाता है तो कोई केवल मन के और कोई केवल बुद्धि के ही।ऐसा क्यों? पर जब कभी कोई हमारे शरीर, मन, और बुद्धि तीनों में एकलय बन कर समा जाता है तो क्या होता है। इन प्ररनों का उत्तर, इन समझाओं का समाधान और इन रहस्यों का उद्घाटन आपको श्री मुन्शी की इस गुम्तक ‘शिशु और सखी’ में मिलेगा।

शिशु और सखी

लेखक

कन्हैयालाल मुन्शी



कि ता ब म ह ल
इ ला हा वा द

प्रथम संस्करण
१९५२
अनुवादक
शिवचंद्र नागर, एम० ए०
प्रकाशक
किताब महल, इलाहाबाद
मुद्रक
ए० छन्दू० आर. प्रेस
इलाहाबाद

दो शब्द

मैंने जितनी भी पुस्तकें लिखीं उनमें से यही पुस्तक स्वयं लिखी हुई कही जा सकती है। १६३० में मैं जेल में था। तब तीन महीने तक न तो मुझसे उपन्यास लिखा गया और न नाटक ही। कल्पना शक्ति क्षीण हो गई है कुछ कुछ ऐसा लगा अतः मैं बहुत लिख हो गया। एक दो दिन तक मैं बहुत अस्वस्थ रहा हूँ और किर लिखने बैठा और दस दिन में जो लिखा उसे एक मानव बाहर के संशोधनों के साथ आपके सामने ला रहा हूँ।

इस पुस्तक की लेखन-शैली कैसी रक्खूँ इसका मैंने विचार नहीं किया था। कविता लिखने की मुझ में शक्ति नहीं, अपद्यागद्य लिखने की इच्छा नहीं। कवि नानालाला के सुन्दर अपद्यागद्य के अनुकरण की इच्छा मैंने कभी नहीं रखी और वैसी शक्ति मुझ में है भी नहीं। पर यह लिखते समय, पुरणी पंडित जिस हाथ और ज्वनि के साथ अनु-ष्टुप बोलता है उसी प्रकार मैं बोलता गया और लिखता गया।

एक था शिष्य
गम्भीर उत्साही और स्नेहशील
माता के लिये जैसे बाल मुकुद
यह इकलौता लाइला
रवच्छ्रदता से विहार करता,
और स्वजनों की ममता का स्वामी बन इच्छित सम्मान प्राप्त
करता।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण कथा लिखी गई है। पर साहित्य की दृष्टि से इसे गद्य मान कर, गद्य रूप में ही छपाई है। मेरी शैली के कितने ही सुन्दर तत्त्व इसमें नहीं, कितने ही नवीन तत्त्व इसमें हैं वे इसमें किस प्रकार अवतरित हुए हैं यह मैं नहीं बता सकता।

मुमर्द्द }
ता० १५-१-३२ }

कन्हैयालाल मुन्शी

अपनी सखी को

Grow strong my comrade ; that you may stand.
Unshaken, when I fall ; that I may know.
The shattered fragments of my song will come.
At last to finer melody in you ;
That I may tell my heart that you begin,
Where passing I leave off, and fathom more.

—Anonymous.

एक था शिशु—गंभीर, उत्तमाही और स्नेहशील, माता के लिये बाल सुर्कुद ।

वह इकलौता लाडला शिशु स्वच्छंद विचरण करता और स्वजनों की ममता का स्वामी बनकर अभिलपित सम्मान प्राप्त करता ।

उसकी ममतामयी माँ उसे कहानियाँ सुनाती और वह रात-दिन सुनता; और सुनी हुई कथाओं की स्मरण सृष्टि रखता । दिन भर वह शारीक के गर्व से अपनी इस सृष्टि में विचरण करता और उसकी अवधारणीय बीरता से दिशायें गरज उठतीं ।

ध्रुव का अनुकरण कर, वह एक पैर पर खड़ा खड़ा श्री कृष्ण की कृपा का अधिकारी बनता ।

रेणुका की स्वामी के तरह ज्ञातियों के विनाश की प्रतिशा लेकर प्रतापी और परशुधारी वह, राजकुत्तों का समूलोच्छेद करता ।

शुकदेव जी की तरह बाल तपस्वी बन कर ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये वह धर-संसार का त्याग करता ।

विश्वामित्र और वेदव्यास के आश्रम-हरिण जैसे किसी भावी तपस्वी का स्वागत कर रहे हों, इस प्रकार उसके साथ क्रीड़ा करते ।

बहुधा वह आधी रात के समय जाग जाता और कान में गूँजते हुए विजय-नौध से उसकी नींद उड़ जाती ।

कच्ची और कोमल उम्र में उसने एक मनभावनी सखि की कल्पना की । पलने में वह भी शिशु के साथ साथ झूलती ।

जैसे ही उसकी समझ बढ़ा कि भाँति भाँति की वस्तुओं लाकर अपनी सखि के चरणों में उपहार स्वरूप चढ़ा देने की भावना ने जन्म लिया ।

किसी प्रकार के भी सुख और आनन्द में वह अपनी सहचरी को न अब भूल पाता ।

कहीं बाहर जाता तो गाड़ी में उसके लिये स्थान खाली छोड़कर बैठता और अंवकारमय मार्ग की वृक्ष-छाया के राङ्गों का संहार कर अपनी बाल सखी को अभय दान देता ।

वह बड़ा हुआ, एकाकी और गंभीर । वह अकेला ही खेलता, पद्धता और इधर उधर की गप्पों में समय बिता देता ।

उसने 'अरेकियन नाइट्स' का स्वाध्याय आरंभ किया और आष-जीवन को अपने बाल स्वप्न का घ्येय बनाया ।

पर वह मनभावनी सखि हर समय उसकी सहचरी बनी रहती ।

आठ वर्ष की अवस्था में उसने यज्ञो-पवीत धारण किया, हाथ में ढंडा लेकर 'भवति निक्षादेहि' का उच्चारण किया ।

गायत्री मंत्र से सूर्य की उपासना करते हुए उसने ब्राह्मण धर्म की दीक्षा पाई । अपने को बाल-ऋषि मान कर उसने धर्म संस्थापना के विभिन्न संकलन किये ।

मंगल उत्सव मनाया गया और स्वजनों की श्रांति उस पर लगी रही । आठ वर्ष का बढ़ुक तीन वर्ष की कन्या लाया ।

माता पिता के हृदय हर्ष से फूले न समाये । जगत ने यश दिया और लिया और सबने बाहवाह की ।

एक बार खेजते कूदते शिशु को अपने जैसी ही एक सखि मिली । वे दोनों खेले, हँसे और वियुक्त हो गये ।

फिर उसने अपने बाल हृदय की अधिकारिणी मनभावनी सखि के सख्य-भाव की खोज की । कम बोलने वाला और अकेला वह उसके साथ आनन्द का अनुभव करता ।

बाल चक्षुओं से देखी हुई रंगभूमि की अनुत्त रंगीन सूष्मि के ठोंदर्म में वह उसकी छाया के ही दर्शन करता ।

जहाँ भी वह जाता वही आनी हृदय-वालिनी को ले जाता और एकांत में उससे सुन्दरी की कहानी कहता और सुनता ।

उसमें सखि की कल्पना की थी, छोटी, सुकुमार और सुन्दर । उसके साथ वह भी बड़ी होती और वह जो आचरण करता वह उसका अनु-करण करती ।

इस एकाकी भनस्वी बालक को अपूर्व सहचरी संसार से अविचित अवश्य थो पर पग पग पर उसके अंतर को प्रेरणा देती थी ।

शिशु को सहचरी को पर्वाह नहीं थी । वह पढ़ता तो जैसे वे दोनों पढ़ रहे हों ऐसे आनन्द का अनुभव करता ।

जगत् इतना ही जानता था कि शिशु एकाकी पर आनन्द-विमोर था ।

उसने अध्ययन किया और विद्यापीठ में पैर रखा ।

तिता ने हृपे के आँसू गिराये 'मेरा पुत्र कुग का उद्धार करेगा और जो मैंने भी नहीं किया वह करेगा' इस विचार से उसका हृदय फूला न सनाया ।

माँ ने बेटे की बलौपाँ ली और शंकर से संरक्षण की आवाज की ।

शिशु ने अकेले ही अपना जीवन शारम्भ किया ।

विद्यामंदिरों के छात्राज्ञानों में रहकर उसकी मृद्वाकौङ्का यै मर्यादित हो गई' । अध्ययन की तरस्या उसने को और महत्ता के स्वप्न उसने संजोये ।

मित्रों का स्नैइ और अध्यापकों की आशा उसमें केन्द्रस्थ बनी ।

देशभक्त सुरेन्द्र की गर्जना उसने सुनी, देवा लाल और बाल का स्याग और विदेशी जैसे लगने वाले अरविंद का महायांगी में परिवर्तन ।

बंगभंग की घोषणा के विशद राष्ट्र की ललकार सुनी और अपनी अल्प तथा द्वीण घ्वनि को उसमें लग कर दिया ।

उसने राष्ट्रमत्ति की कंठी घाँधी, 'बंदेमातरम्' का ग्रहसमर्पण लिया;

और बालउत्साह से स्वदेश मुक्ति के ब्रत कुष्ठ लिये और कुष्ठ का पालन किया ।

जब मित्र जँघते तो सुनसान कमरे में वह पढ़ता । जब गुंजगर्भी अठारी पर वह अकेला और गंभीर धूमता; जब एकाग्र चित्त से वह साहित्य कुसुमों की सुवास लेता, तब ममतामयी, हँसती खेलती उसकी बालसखी सदा उसके साथ विचरण करती । और येल्मा की तेजस्विता, शर्ले की मादकता एवं आभा, शकुन्तला की सौम्यता, उर्वशी का सौंदर्य और द्रौपदी की दिव्य तथा ज्वलंत द्युति—थोड़ी बहुत—वह उसमें देखता और प्रसन्न होता ।

उसके पिता का स्वर्गवास हुआ और वधों वीत गये ।

लोकाचार के वशीभूत हो माता ने व्योम में विचरण करते हुए शिशु को संसार में प्रवेश करने की आज्ञा देकर उसी पृथकी का प्राणी बनाया ।

उद्देश से आकुल वह भविष्य की नौका को संसार जल पर छोड़ने के लिये तैयार हुआ ।

कांट-स्पेन्सर के गगनगामी विचार पंखो से उड़ती हुई बुद्धि, कालिदास और शेली द्वारा उद्भूत भावनाओं से उछलती हुई भावुकता और दिव्यमूर्ति देव के साहचर्य में भग्न मनस्वी हृदय—इन सबके आगे ज्योतिषियों द्वारा निकाली हुई मंगलमय राशि में, आ खड़ी हुई—एक बारह वर्ष की बालिका—अपद और असम्भ्य ।

कूर संसार की कठोरता की लज्य उस बेवारी को पिता माता ने जन्म देकर पहले से ही एक विनासमझा था ।

उनको अनेक विभ बाधायें घेरे हुए थीं पर इस लड़की को उन्होंने एक आपस्ति बनाकर न रखा बल्कि उसे घर के कार्यभार के लिये एक दासी बना दिया था ।

पेट भर भोजन, दिन भर वी नौकरी, और जीवन भर की इश्य-

हाय—बारह वर्ष की उम्र में यही उसका सुख यही उसका आनन्द। विवाह की शुद्धचढ़ी और बारवें^५ का भोजन यह उसके ज्ञान की मर्यादा।

इस दशा में भी वह पति को समझती थी देवों का देव और सुक्ति का एक मात्र प्रदाता।

उसका सर्वस्व थी एकमात्र उसकी अपनी छोटी सी जान।

हाँसीली अल्पवयस्का भिलारिन अग्नि अग्निचित परमेश्वर को इस समय सर्वस्व समर्पित करने के लिये आयी थी।

शिशु ने उसे आते हुए देखा, उसका स्वरूप निरखा और उसके चोल सुने।

अपने संसार की इस सद्धर्भिणी के दर्शन कर वह सिर पीट कर जी भर रोया।

गगनचुंबी गौरी शिखर पर से किमलकर गिरते हुए कोई गर्वीजा गिरिचर देखे, यंत्र दृष्टने पर अपने विमान का विधंस कोई गतिमैंनी, वैमानिक देखे, उसी प्रकार रसशृङ् पर रहने वाले रसिक शिशु ने आशा और आदर्श का करण विनाश अपनी आँखों के सामने होते हुए देखा।

उसकी आँखों का तेज जाता रहा और हृदय शोकाभियूत हो गया।

प्रत्येक दिशा हाय फैला कर उसका गला धोटने लगी।

अनंत काल के लिये शृङ्खला बद्ध, अंधे और आशाविहीन किसी अभागे की तरह उत्तरका विश्व अन्धकारमय हो गया।

वह रोया; साथ में ममतामयी बालिका भी रोयी। मंगलमयी रजनी में वह बेवारी हन आँसुओं का रहस्य कहाँ से समझे? जिस प्रभु को वह रिभाने आयी थी वह रुठा हुआ सा लगता था। गदगद कंठ से उसने पूछा, “मैं अच्छी नहीं लगती!”

आँसुओं की बाद से निर्मित यवनिका को मेदकर, आर्त, दयनीय

* मृत्यु के ‘क्षादशा’ जिसमें ब्राह्मण भोजन कराया जाता है।

और काँपता हुआ स्वर शिशु की हताश आत्मा को सुनाई दिया। और विनष्ट सृष्टि के खण्डहरों पर खड़ा खड़ा वह विश्वकर्मा सदृश अपना आत्म विध्वंस देखता रहा।

उसने संकल्प किया, “भले ही मेरी देह का विनाश हो जाये पर इसमें जब तक प्राण हैं मैं कर्तव्य भ्रष्ट नहीं होऊँगा। मैं प्रत्येक पल मृत्यु का आहान करूँगा पर मानवता को हृदय में रखकर।”

और काँपती हूई बालिका को उसने आश्वासन दिया, “झरो मत; मेरी तबियत ठीक नहीं है।”

क्रूर और निश्चल संकल्प से कोई आभास-अभिलापी अपने हाथ से ही अपने गले पर छुरी रखे इसी प्रकार उसने तिरस्कारमयी बुद्धि, अरुचिकर होने से आकुल मन और काँपते हुए शरीर इन तीनों को पतधर्म सिद्धि के पीछे होम दिया।

उसका रसोल्लास व्यर्थ हो गया। अपने प्रिय काव्य उसने दूर खिसका दिये। जो जो उसे उच्चाकाङ्क्षाओं की ऐरण्या दिया करते थे उन्हीं का वह द्वेषी बन गया। मित्रों से विमुख, आनन्द से अस्पृश्य, क्रूर आमानुपी हँसी हँसता हुआ वह घूमता रहता।

जैसे बाण से विधा हुआ मृग भागने के लिये असमर्थ, पृथ्वी पर पड़ा-पड़ा मृत्यु की प्रतीक्षा करता हुआ अपने अंगों को समेटे, इसी प्रकार उसने आशा और आदर्श को गले से चिपटाकर “किस के लिये जीवित रहूँ किसके लिये?” यह मृत्यु गीत गाना आरंभ कर दिया।

व्रस्त जगत् का दुखभंजन देव, अनाथों का नाथ भी उसकी सहायता न कर सका। निराधार की एकमात्र आधार दयामय निद्रा भी उसकी बैरिन बन गई।

दिन, सुनाई न देने वाला, पर हृदय को जलाने वाली घड़कन बन गया और रात बन गई अशु की अविरत धारा।

सूख वह सरिता गई जो व्यास प्यासे की चुम्फा दे,
‘व्यास व्यास’ पुकारता लो आज व्यासा मर रहा है।
इदय के सुकुनार अंकुर सूखते सब जा रहे हैं,
•मृत्यु-निर्भर के किनारे आज जीवन झर रहा है।

कलापा का यह निराशामय जीवन मंत्र गुणगुनाता हुआ वह बूमता रहता।

उसके सुदृढ़ों में केवल दो थे, एक बड़ा भाई, भाई से भी अधिक, भावार्थी, दूसरा छांटा भाई, भक्त से भी अधिक भक्ति से ओतप्रोत।

उन्होंने उसे बहुत कुछ समझाया अनेक बार आँख की धारा पौछी। पर एकमात्र मृत्यु ही जिसके ज़िए मित्र है ऐसे हताश व्यक्ति को कैसा आश्वासन !

आधीरात के समय, फट्टे हुए माथे से भी हङ्किन्त होकर अकेला बैठा हुआ यम की आराधना कर रहा था, आत्मा के गांभीर्य में छिपी हुई सखी से मिलने के लिये उत्सुक। सामने विष की शीशी पड़ी थी।

छांटा भाई आया, समझा और गर्दन से लिपट गया, और गदगद कंठ से शिशु से प्राण का दान माँगा।

बङ्गियों तक दोनों रोये, एक दूसरे से कंधे पर लिर रखकर—एक माँ की मृत्यु को याद कर और दूसरी प्रिय मिलन की आकूचा के लिये।

समदूखी व्यक्तियों के लिये निराशा को सहन करना भी सहज हो गया।

यदि प्रेमियों की मनचाही हो जाया करे तो कोई भी प्रणय की पूजा न करे।

प्रणय-पिपासु शिशु जीवित तो रहा पर उसकी अंतर वेदना बढ़ती गई। जीवन में न रहा रस और न रहा ध्येय; उसने अध्ययन किया पर जीवन पूरा करने के लिये।

* गुजराती कवि कलापी की गुजराती कविता का हिन्दी अनुवाद।

अन्त में रोग ने कृपा की और उसे विस्तरे से लगा दिया ।

दिन रात वह पागल ज्वर से संतप्त तड़पा और शरीर के ताप में मन का ताप भूल गया ।

बहुत समय तक वह मृत्यु और जीवन के बीच झूलता रहा ।

किसके लिये जीवित रहूँ ! नहीं-नहीं जीवित रहूँ इस प्रकार आकुन्द करता हुआ वह माँ बहिन के गले लगकर व्यथित हृदय के जलते हुए शुब्बार निकालता ।

अल्प वयस्का, नासमझ सती को देखते ही वह सब कुछ भूल जाता; उसका स्वर्ण होते ही शिशु को सज्जिपात का सा आवेश हो आता ।

पर मितभापिणी और परिश्रमी बेचारी दिन और रात उस दुष्ट को रिभाती । उसके क्षीर का विकास नहीं हुआ था । शिशु की व्यथा वह समझती न थी । जितना पतिदेव करने देते उतनी ही सेवा वह करती और दूर से उनके दर्शनों में ही जीवन सार्थक समझती और शंकर भगवान से सदैव स्वामी सौभाग्य की धाचना करती ।

माता और छोटी की एकनिष्ठ सेवा ने यम को भी वापिस लौटा दिया । शिशु अच्छा होने लगा ।

शरीर दौर्बल्य ने हृदय के दुख पर विजय पायी ।

सती के मुख का पार न था; उसका सौभाग्य आखंड रहा ।

आया तो चारों ओर इस अपरिचित विकट और उग्र महानगर का कोलाहल सुनाई देता था।

पक्षियों के नीङ्ग से भी अधिक दुर्घटमय मनुष्यनिमित्त भवन की चौथी मंजिल पर रहकर आधी रात के समय खिड़कों से बाहर दृष्टि फेंकता; और गगनचुंबी घरों की पंक्तियों से अंधकारमय नगर, थक कर खड़े हुए राजस बृंद की छाया के सहश, सदा ही इसका गला बोटता।

उस समय उसे आपनी आत्मता का लीब्र भान होता।

समुद्र तट पर रेत में बैठकर, कभी संध्या को वह धमधम जाती हुई मोटरों में विहार करता हुआ धनबैभव देखता, मन विशाल भवनों में से निकलता हुआ रसिक हास्य विनोद सुनता, तब ईर्ष्या से वह अधमरा हो जाता।

सागर के समीप की भव्यता से वह भ्रम में पढ़ जाता तथा थके हुए पैरों की पीड़ा भुलाकर वह असंतुष्ट और अभिमानी व्यक्ति महत्वाकांक्षा के रंग चिरंगी दर्शन करने में मन हो जाता।

बैमव और प्रताप की छाया में वह सदा ही सकुचा जाता पर तब भी वह विराट वैतालों को वश करने की योजनायें बनाता और बिगड़ता रहता।

वह बहुत सी योजनायें बनाता और बिगड़ता पर वशीकरण का रहस्य एकाग्र अभ्यास और अडिग वैराय में ही उसे मिलता।

सादा और सस्ता भोजन, चटाई पर शयन, शारदा भंदिर की पैदल यात्रा, ऐसी कठिन तपस्या वह करता और ज्ञान प्राप्ति के मार्गों में अविनाशित विचरण करता।

समय और स्थल का अंतर भेद कर आकांक्षा की सिद्धि दुरन्त हो जाये इसकी वह एक भाव से प्रतीक्षा करता रहता।

सूरत के रण संग्राम में उसने नरकेसरी तिलक का तृफाल देखा,

लाजगतराय का अनाडंचरी स्वार्थ त्याग निरखा, और महर्पि सहश श्रविन्द का प्रेरणावाची वाणी प्रमाण भी चाला ।

राष्ट्रमिंडों की बहाँ गर्जना सुनी और उनकी शक्ति का आक्रमण भी देखा और राष्ट्र की भावी में उसको एक गहरी, श्रटल और कर्तव्य प्रेरक अद्वा हो गई ।

महारथियों के दर्शन से उनकी आँख में आशा की र्घोति जग-मगायी, उसकी भुजाओं में उत्साहमय वीर-रुधिर प्रवहित होने लगा । उसके हृदय में एक निःसीम साक्ष प्रकट हुआ और रग रग में उछलने लगी एक ही अङ्गिरा और अविचल निष्ठा :—विजय केवल विजय चाहे फिर मरना भी क्यों न पड़े ?

इस महानगर की कोलात्तल पूर्ण गलियों में धूमते हुए भी निजीव और एकाकी शिशु के हृदय में सखी की एक ज्वलंत प्रतिमा थी—वैसी की वैसी ही ।

भूलेश्वर जाती हुई भक्तिन में, सागर तट पर विहार करती हुई रमणी में वह उसको बारंबार खोजता ।

कोई मुख, कोई लटक, कोई चाल कोई हास्य मृगमरीचिका के पीछे पागल मृग की ताह आकर्षित करते और उनके पीछे हृदय में रमण करने वाली प्रियतमा का दर्शनाभिलाषी वह शिशु दौड़ता ।

किंतु निरीक्षण सदा ही निराशा में परिणत हो जाता ।

उसकी प्रियतमा का एक एक अंग तो उनमें से बहुत सी चुराये बैठी थीं पर वह थीं अप्रतिम तथा अपूर्व । उस जैसी रेखाओं से किसी का भी निर्माण नहीं हुआ था ।

“प्रणथ की अपूर्णता को पूर्ण करे” यह पुरातन-ग्रीक का विचित्र चारणा प्रत्येक विद्यालय में युवकों को भ्रम में डाल देता है, अनुभव विहीन विद्यार्थी अनेक असाध्य शपथ ले बैठते हैं ।

इस भ्रम को स्थान देना जितना आसान है उतना ही आसान उसको भूल जाना भी है और उसको अपनाना तो निरांत अशक्य है।

पर एक मृत्युमुख में जाता हुआ आधार विहीन व्यक्ति जिस प्रकार आशा तंतु पर लटक जाना चाहता है उसी प्रकार भग्नाश शिशु, इस भ्रम को अपना कर, समय और स्नेह भावनाओं का समर्पण करता गया।

छोटा भाई लहड़ा-भिड़ता पर स्नेह और शांति देता रहता। प्रशंसा मुग्ध इस शिष्य का प्रेम एकाकीपन के शीत में जम गई दृतियों को जागृत करता उसके अध्यापन में शिशु को शांति मिलती, उसके साथ कुछ-कुछ सुख का अनुभव होता।

विषम या विकट पथ भी क्यों न हो पर प्रीतिरस के निर्भर को कौन रिक्त कर सकता है?

प्राणेश्वरी को खोज-खोजकर वह थक गया और हार गया; फिर उसकी बनायी सुन्दर प्रतिमा। उसमें भरे, कल्पना और शब्द के विभिन्न रंग। उसको लपेटा, कल्पना संसार के जाल में तथा स्वर्य बना इस संसार-जाल की मकड़ी।

मीरा को संसार जाल था अपने प्रियतम नटनागर का इसी प्रकार इसके लिये संसार जाल बना इसकी नवयौवना सखी का।

मीरा गाती गिरधर नागर के प्रणय गीत; शिशु भी गुनगुनाता यही प्रेम संदेश।

इसके हृदय में वसी हुई इसकी सखी मीरा के पद-पद का प्रणय-मंत्र उसी की आवाज में उसे सुनाती।

“मने तारो बगैर नहीं हचतु रे,

आबी पूरो हिथ की आश मेरे राज।

हो, मने भुल गयो छे मारो छेलहो रे।

इस पुराने गीत की प्रतिष्ठनि प्रिय और अपार्थिन—कुछ भ्रम के

पदों को चीरकर उसके कान से टकराती। और स्थूल देह के बंधन छोड़कर इसकी प्रणय विहळ आत्मा, आशा पूर्ण करने के लिये उत्सुक और गाने वाली का आलिंगन करने के लिये दौड़ पड़ती। पर थोड़ी देर में अशुस्तिका की धारा में बहकर, तड़पता हुआ और व्याकुल उसी शुक्र जीवन के किनारे पर आ लगता जहाँ कि वह पहले था।

सती सेवा में सुख का अनुभव करनी, शिशु इस सेवा को स्वीकृत करता और निराधार का एकमात्र आधार बनकर इसे सुख देता।

संसार की शोभा के लिये सुरक्षित हँसी, कर्तव्य और दया से प्रेरित होकर वह संसार के आँगन में बखेर देता और अन्तर के हास्य से अपरिचित सती उसको अमूल्य रत्नों का समूह समझकर स्वीकार करती और समेट लेती।

एक दिन इसने सुना कि इसकी बालसखी के नाम वाली ही एक सुकुमार वाला का स्वर्गवास हो गया।

नाम की एकता ने इसके हृदय को मसोत डाला और इसने उसे अपनी कल्पना की सखी ही समझा।

उस कल्पनाविलासी गूर्ख ने कल्पना की कि वह उसके प्रेम की पागल उसकी बाल-सहचरी, वर्षों के विरह में धुल-धुलकर उसके नाम का स्मरण करती हुई बैकुण्ठ को चली गई।

देखते ही देखते उसकी वर्षों की दबी हुई भावनायें फिर उगरी। विस्मृत निराशा सामने आकर खड़ी हो गई—इस बार पहले से भी विकराल।

वह फिर हो गया पहले की तरह ही निराश।

प्रियतम की मृत्यु को याद कर वह विधाता पर कोप के आँगारे बरसाने लगा।

लाना, सोना कौर बोलना —सर्वस्व उसने छोड़ दिया।

वह बीमार पड़ गया। शरीर की वेदना में हृदय की वेदना भुला दी।

बीमारी से उठकर उसने संकल्प किया हृदय को जला कर भस्म करने का; इस भस्म से महत्वाकांक्षा के कोट निर्माण करने का; और हृदय हीन बनकर, समस्त जगत का तिरस्कार करने का।

बासना के त्याग की बात जितनी आसान है उतनी उसकी सिद्धि सहज नहीं।

महानगर में वह सती के साथ आकर रहने लगा और साथ में छोटे भाई को भी ले आया।

महत्त्व की सिद्धि के लिये उसने एक छाटे से दुर्ग का निर्माण किया, छी सेवा और मित्र स्नेह से सुगक्षित।

इसमें बैठे बैठे उसने दिविजय की थोजना गढ़ना आरंभ किया।

शरीर का तादात्म्य और भावना, संवाद तथा आत्मा से आत्मा की अमर एकता छी पुरुष के संबंध को सरस और सनातन बनाये रखते हैं।

पर पुरुषों के परस्पर स्नेह में हन श्रंशों का समावेश नहीं रहता। उनके बंधन तो होते हैं, स्वार्थ या सहिष्णुता, बाल सहवास से उद्भूत स्वभाव या समानधर्म की कस्ती पर खरों उतरने वाल सहचार।

छाटे भाई ने शैशव छाँड़ा और साथ ही शिष्य की दीनता का भी त्याग किया। उसकी मातृ स्नेह की भूख मिट गई और वह प्रतिस्पर्धी तथा विवेचक बना।

पर शिष्य के भ्रमन्दल कुछ खुले नहीं।

कृत्तिता से झुलसा होने पर भी वह भावुक, जीवन के अवशेष से चिपड़ा रहा।

धीमे धीमे एक दूसरे का परिचित स्वर कम सुनाई देने लगा। एक दूसरे की ओर देखने से मुखाकृति पर अपरिचित रेखायें दिखायी दी, और नवनों का स्नेहासृत सूखने लगा।

छोटे भाई के बारही-व्यंग से झुजसा हुआ वह विचार करने लगा किये हुए कार्य के लिए क्या उपहार कभी अच्छा लगता है ?”

महानगर का चांगों और फैला हुआ धूमिल जीवन प्रबाह सती ने देखा और सुना; अनुभव ने उसे नवीन नेत्र दिये और अब वह कुछ कुछ शिशु को समझी ।

छोटे भाई के अस्त में सती ने अपने उदय के दर्शन किये ।

उसके लिये छोटा सा पर अपना घर सदा ही आनंद का धाम था । पति की परिचर्या यही उसका सुख था । सारे दिन भाङ् बुहारी और भोजन; शिशु के शरीर तथा व्यवस्था की देखरेख; रात के शांत वातावरण में पतिदेव का सत्कार करना; चुआचाप उसे शांति का आस्थाद लेते हुए देखना, सर्वस्व समर्पित कर देना किंतु कुछ मांगना नहीं । यही सती के आनंद और मोक्ष दोनों थे ।

‘प्रणय’ और ‘प्रियतम’ के नाम से अपरिचित वह सतीत्व में ही अपने स्वर्वर्म की परिणति समझी और शिशु की हलकी सी मुस्कराहट में ही परम संतोष का अनुभव करती ।

न थी गहरी सपन, न थी सहेलियाँ और न थी कोई सहायक ही पर किर भी वह सरस छुट्टी बनी रही, दासी से सुखी और यदिशी से निरमिमानी ।

महानगर की विविधता मर्यादित ज्ञान प्रति की तपस्या करते हुए विद्यार्थी दृढ़ में शिशु का प्रताप बिकसित होने लगा । उसकी बुद्धि चमक उठी; वह राग और द्वेष से प्रेरित हुआ और विद्यार्थियों की बाद-विवाद समिति में उसकी आवाज गरज उठी ।

उसे स्वशक्ति का नवीन आभास हुआ । तने हुए धनुष की तरह दैवार और कांगने हुए वह शक्ति के बाण फेंकने लगा ।

उत्साही और आत्म भद्रावान, वह पदता, देखता और परीक्षा करता;

दूसरों कं अपना बनाता, और प्रताप के प्रसार के लिये नवीन चेत्र की खोज करता ।

प्रशंसकों और मित्रों से घिरा हुआ वह सत्ता के आनन्द का अनुभव करने लगा ।

उसे देत कर एक बृद्धे, विद्वान् काका को आनंद मिला ।

छोटा, सुन्दर, सिंह शिशु, मोहक और रमणीय, रक्तपिण्ड होने के मय से नहीं पाला जा सकता और साथ साथ असीध सौंदर्य के कारण छोड़ने को भी मन नहीं करता इसी प्रकार यह बृद्ध, शिशु को न तो रख सका और न छोड़ ही सका ।

विकास की साधना में एकाग्र होकर शिशु ने कल्पना के विलास को अपनाया ।

प्रियतमा की कल्पना मूर्ति की उसने नायिका बनायी और स्वयं बना नायक और ब्रह्मंतर की अव्यक्त उमियों के साथ साथ काव्य मार्ग में वह गया ।

आत्म कथन की अनुस अभिलाषा ही काव्य सृजन का एक मात्र मूल है । इस अभिलाषा के पोषण में ही वह कवि बना ।

जब वह काव्य रचना में व्यस्त था तो शब्दों की सृष्टि ने पल भर के लिये जैसे शरीर धारण कर लिया हो और वह सखी की प्रतिमा हो ऐसी एक वालिका उसने देखी और आँखे मलने लगा ।

पर आँखे मलने से पहले ही वह चली गई ।

दुर्भाग्य को दीष देकर अच्छे हांते हुए शाव को फिर अच्छा करने का प्रयास करने लगा ।

अंत में छोटा भाई को खित हो गया । अपने जीवन की वर्षों की निष्फलता उसने शिशु के सिर पर ढाल दी । वर्षों के स्नेह पर पल भर में पानी फेर कर वह निर्दय बहाँ से चला गला ।

दुर्भाग्य के आपातों से थके हुए शिशु ने बाल जीवन के एक पूर्ण जीवित स्नेह को तिलाजलि देकर एक यह आशात भी सहा ।

जल बिंदु के बिना तड़पता हुआ यह स्नेह चातक पार्थसारथि,
भगवान कृष्ण के चरणों में जा लोटा ।

पहली बार उसने उच्चारण करना सीखा मूँक को वाचाल करने
वाले, पंगु से पर्वत का उल्लंघन करा देने वाले देवकी परमानंद के अन-
मिस्लेहत के महायंत्र का

यः सर्वभानभिस्नेहस्तत्प्राप्य शुभाशुभम्

नाभिनंदति न द्वैबृष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।

जैसे अंधेरे में भूला भटका पथिक मार्ग के बीराने में दृढ़ समूह के बीच
एक सुदूर महाभावना का प्रकाश देखे और साहस बटोरे इसी प्रकार पुराने
योगीन्द्र की स्थित प्रश्न मानवता उसने देखी और साहस ग्रहण किया ।

पर जहाँ कितने ही तपस्वी भ्रष्ट हो गये हैं वहाँ स्मशान वैरागी का
क्या कहना ?

इतने में सती ने उसको स्वाधीन कर दिया । उसके ही शरीर सूर्य में
से वियुक्त पृथ्वी सदृश, मधुर छीण, अस्पष्ट आलाप करती, छोटी छोटी
आँखों से उल्लास संदेश कहती—एक छोटी सी हँसती हुई पंख
विहीन परी ।

शिशु की मजाक में रस लेती, विधि की भेंट हो ऐसी स्नेह की यह
छीण और सुनहरी शृंखला हर्ष से शिशु का सरकार कर असीम स्नेहत्व
का कर्कशता छाड़ने लगी ।

सती का सितारा चमका ।

अपनी पुत्री की माता का अरमान न करना चाहिये । यह मान कर
शिशु ने उसका यहिणी पद से सम्मान किया ।

कोई बालसिंह एक छुलांग में सरिता को पार कर जाये इस प्रकार
वह शिष्यवृत्ति को भी पार कर गया । कर्मी और वैमव का लोभी आशा
और उत्साह से भरा हुआ वह धारा-संप्रदाय की दीदा प्राप्त करने लगा ।

माता प्रसन्न हुई, सती, प्रसन्न हुई, स्वजनों को भी हर्ष हुआ नित्रों ने
अभिनंदन की दृति की; स्नेहियों ने आगामी आशाओं के दर्शन किये ।

विरुद्धत धाराधर और चिरस्मरणीय न्यायमूर्ति अपनी जवानी के गर्व से उस मंदिर के कठोर पथर के सोगान पर जिस प्रकार चढ़ते थे उसी प्रकार शिशु भी उत्साहपूर्ण पर जरा सहमा हुआ अपनी नवग्रास सत्ता के तेज से गर्वित, उस भवन के सोगान पर चढ़ा।

इस पर होकर इसी तरह प्रतिवर्ष अनेक आशावादी युवक जाते, योड़ी सी अपनी चाही हुई बस्तु प्राप्त करते; और कुछ के अवशेष पदचिह्नों का संसार हमरण करता।

इस मंदिर में विजय प्रदीप की प्रचंड ऊँवाला भड़-भड़ाती और उसके आस-नास उड़ने वाले आशावादी युवकों की आकांक्षाएँ उसमें भस्मीभूत होतीं।

विशाल भवनों में विराजमान न्यायमूर्ति न्यायाधीश; बरामदे में इकट्ठा हुआ न्यायवाल्यों का समूह, विशाल और भव्य पुस्तकालय में एक जगह बैठे हुए हँसते, बोलते, हँसी मजाक करते हुए, पैर फैलाकर आराम कुर्सियों पर पड़े हुए धाराधर * यह सब कुछ उसने देखा और उसका शरीर जड़ होने लगा।

यहाँ आना तुच्छ था पर निष्कृत पड़े रहने से तो ठीक था।

वर्षों तक, शिशु की तरह ही आये हुए एक महारथी से यहाँ वह अपना काम सोखता रहा।

विचक्षण नुदें, उससे भी विचक्षण वार्षी तथा लाजबाज कर देने

* बकील, एहवोकेट, बैरीस्टर।

की सिफत से उसने अपने बराबर वालों की आँख खोलने से पहले ही प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी ।

कोई सर्वदर्शी खगोलवेता जिस प्रकार प्रत्येक ग्रह की गति निश्चय कर सकता है उसी प्रकार वह भी प्रत्येक कार्य का प्रगति पंथ निश्चय कर सकता था ।

आज तक उसने औशर्य का पाठ नहीं पढ़ा था ।

जगत् को तृणवत् समझने वाले अपनी विद्रता में मस्त, इसी महा-रानी के लिये छोटा और निर्धन शिशु घृणित भीच और दूड़े हुए आसन से भी निरुभयोगी था ।

दिन रात किए हुए श्रम का परिणाम एक उत्तेजक शब्द की आशा से शिशु उसके चरणों में चढ़ाता; पर ऐसा शब्द गुरु के मुख से कभी भी न निकलता ।

शब्द, अर्थ और ज्ञान के अटपटे भेद, व्यायासन को हिलादेने वाली शब्द पटुता; मानव हृदय की उलझतों हुई गुलियों का ज्ञान; पाश्चात्य रहन-सहन तथा विचार प्रणाली, बदमाशों की चालाकी; तिर्णांतमय जीवन को विडंबना, महानगर का तंत्र यह सब उसने गुरु के चरणों में सीखा ।

ज्ञान-प्राप्ति का शृणु स्वीकृत करते करते शिशु को कई बर्ष बीत गये, पर वृत्ति विरंध का चढ़ा हुआ विष कहीं उत्तर सकता है !

गुरु के हृदय में शिष्य कोई भी गुण स्थान न बना सका और गुरु की शुभेच्छा का मुख शिशु के भावुक हृदय की भावना पूरी न कर सका ।

दिन भर के श्रम के उपरांत आशाभंग और मानभम शिशु रात्रि में शांति सोजने के लिये सती की मुन्द्र कोठरी में जाता ।

अब्रोध सती का आपमान करने वाले पापी को विधाता ने इसी प्रकार के शब्द से आघात पहुँचाया ।

उसी क्रूर समय में शिशु ने संकल्प किया ।

कभी विभाता किसी योग्य बनाये तो क़ुगाजांकी को चाहे खाली हाथ जौठा दे पर तिरस्कृत कर के नहीं ।

जैसे कोई बूढ़ा और विराट व्याघ्राज, संतुष्ट पर चालाक अपनी माँद पर पैर फैलाकर मस्त यौवन का श्रम उतारते हुए, प्रौढ़ स्नेहमय और सरस नेत्रों से अपने पराक्रमों की नवीन सृष्टि के दर्शन करे उसी प्रकार हृद्ध काका शिशु के पराक्रम देखता रहा ।

अधित तथा एकनिष्ठ पुरुष के सामने जिस प्रकार सिद्धि आकर खड़ी हो जाये उसी प्रकार शिशु के आगे शक्ति और समृद्धि आयी आर इस हृदय के हृदय में अद्भुत हर्ष को तरंगे उठाएं ।

एक शरीर, दो व्यक्ति; एक शरीर पर दो दृष्टि; एक मनुष्य पर दो संसार हों इस प्रकार एक शिशु के दो शिशु पृथ्वी पर विचरण करते—

एक स्वरूप, सुन्दर और दोषदर्शी ।

दूसरा दीन, गंभीर और म्लान, प्रणय पागल और योग का जिजासु आदर्श सेवी, स्वर सृष्टि करने के लिये उत्सुक प्रियतमा की स्मरण अंगु-लियों से झक्कत वीणा की तरह ।

एकाकी व्योम में विहार करने वाले इस शिशु ने आत्मकथन के आवेश में; महाकाव्यों द्वारा कल्पना विलास से विकसित सुन्दर और सतरंगी एक नवीन सृष्टि रची ।

उसमें इसने हृदय के भूल भाव सँझाये और आत्मा के गगनस्पर्शी आदर्शों को शब्द शरीर दिया । वर्धों तक अव्यक्त भावना के बहते प्रवाह से कितने ही छोटे उड़ाये और कीर्ति के व्यासे अभिमान को शाति प्रदान की ।

नभ के दो निश्चल भ्रुवतारों की तरह इसके कल्पना विलास के दो अनिवार्य आधार बिंदु थे ।

एक आँख और आदशों से सीचकर पोषित की हुई जीवित और जाज्वल्यमान उसकी बाल सखी ।

दूसरा एक योगीन्द्र, पुराणकथा की संस्मरण भूमि में उत्पन्न शैशव में से ही अपनाये हुए ब्राह्मणत्व के भूले में भूलता हुआ अरविंद के स्पर्श स उज्ज्वल और महाभारत के अभ्यास से भव्य ।

इन दोनों को वह काव्य में बार बार स्थान देता ।

उच्चाभिलाषी और विविध आड़नरों से युक्त सादित्य रसिक मित्रों की संगति उसे मिली । छोटे मुँह से बड़ी बड़ी बातें कहने वाले, शक्ति का अभाव होने पर भी उच्च आदशों का सेवन करने वाले उसे मिले ।

उनमें था एक सरस और निरभिमानी ।

उसने अपनी परिश्रम से सुरक्षित ज्वाला से शिशु का कल्पना प्रदीप जलाया ।

यह दीप लेकर उसने देखा और खोज की । अंधकार में कुछ कुछ प्रकाश फैला, और अन्धुत दर्शन परम्परा उसकी हाथि में चढ़ी ।

और उस नशे में शिशु दौलते लगा :

गुजरात महावृक्ष है । उसकी मूल में श्री कृष्ण का कर्मयोग छिपा है; उसमें दयानंद तथा गाँधी जी की कोपले लगी है । जैसे जैसे विचार करतां हूँ वैसे ही एक दूसरा ही अविभक्त गुजरात जागते और सोते मेरी हाथि के आगे रहता रहता है ।

एक दिन शिशु अकेला ही एक बन में घूमने निकला । इसकी धर्मनियों में एक अन्धुत नाद था । इसके पैर कभी न थकने वाले थे । इसका मन सुवर्ण मय बातावरण में नाचता हो ऐसा लगा ।

समय क्या था इसका ध्यान न रखकर वह एक अपरिचित मार्ग से छोकर उतरा ।

बन तक चलता रहा यह भी उसे होश न रहा ।

सूर्य का चिंच जहाँ दो पर्वतों की पंक्ति दूर मिली तुहाँ दिखाइ देती
थी वहाँ क्षितिज के नीचे धूध गया ।

एक अगरिचित गंभीर गिरि गङ्गार के द्वार से सामने वह खड़ा था ।

उसकी ओर वह दैखता रहा । जैसे उसमें जादू हो इस प्रकार वह
उसके अंदर आकर्षित हुआ ।

उसने गुफा में चरण बढ़ाये ।

उसके हाथ में एक टिमटिमाता छोटा सा दीपक था, जिसका द्वीण
प्रकाश उसके आगे दौड़ता जाता था ।

जैसे जैसे वह प्रकाश आगे गया वैसे ही वह उसके पीछे पीछे चलता
गया, ऊपर, बहुत ऊपर, एक कगार पर होकर, उत्ताह भरे पैरों से और
आशा भरे हृदय से ।

शिशु चढ़ता गया और अंत में एक शिखर पर आ खड़ा हुआ ।
शीतल पवन उसके शरीर को शीतलता प्रदान करने लगी ।

उसने उल्लसित हृदय से पूछा, “मैं कहाँ हूँ ?”

जवाब मिला, “तू है वहाँ जहाँ खड़ा रहना चाहता है ।”

“आओ” और आवाज के पीछे पीछे वह चला ।

पंथ सीधा तथा सरस होता गया । वह एक छोटी सी गुफा में नहीं
था बल्कि उस माँ गुफा में था जिसकी छत व्योम की थी ।

उसको अविश्वास नहीं था ।

आवाज आ रही थी और उसके पीछे पीछे वह चला जा रहा था ।

“मैं कहाँ हूँ ? कहाँ हूँ ?”

“तु है वहाँ जहाँ चाहता था देख,” एक महान गंभीर आवाज की
प्रतिष्ठनि आयी ।

..... और शिशु ने आँखें मलीं ।

कोई आ रहा था एक सीधी पंक्ति में ।

प्रत्येक व्यक्ति हाथ में तेजस्वी ज्योति लेकर एक के पीछे एक आता

जा रहा था और भूत काल जहाँ न होता हो ऐसे अस्पष्ट प्रदेश की ओर अग्रसर होता जा रहा था ।

प्रत्येक की ज्योति पीछे आने वालों को प्रकाश दे रही थी ।

संपूर्ण ज्योति का तेज एकचित होकर इसे चारों ओर से लपेटने लगा । इसके पीछे का प्रकाश भी द्वितिज पर्यन्त फैला हुआ था ।

इस ज्योतिर्धर को आता देखकर शिशु को आश्चर्य नहीं हुआ । किसी न किसी रूप में वह उससे पहले भी मिला था । कहाँ ! यह याद नहीं था । उसका संदेश सुनने के लिये वह सदा ही उत्सुक या इसी का ही रहस्य वह जानना चाहता था... ।

वह देखता है, काल की अन्धकारमय उगती हूई उथा में उग्र और उत्साहित आयों का समूह चला आ रहा था, नवजांडों की खोज में इन्द्र और वरण की मैत्री की याचना करता हुआ ।

उन सब में आ रहे हैं, व्यवन भार्गव । अश्विन द्वारा दी हुई यौवन में मस्त, मुग्ध बनी हुई सुरन्या की प्रेरणा में मग्न यह मुनि इन्द्र को भयग्रीत कर रहे थे । निर्भयता का अपराजित तेज उनकी आँख में था ।

मैत्री हो जाये केवल इसी शर्त पर वह इन्द्र को अर्ध देने के लिये तैयार हैं । पर वेदों का उन्हें डर नहीं ।

—और शिशु दंडवत करता है ।

.....“और आते हैं प्रचंड, तथा विकराल सहस्रार्जुन कार्तवीर्य ।

नर्मदा के किनारे पर माहिष्मती के ग्रासाद शिखर पर खड़ा खड़ा वह नई विजयों की योजना बनाता है ।

इसकी आँखों में क्रूर विनाश के भाव हैं । उसकी बाहुओं में सहस्रों दलों का संहार करने की शक्ति है ।

इस नरशादूल की महत्वाकांक्षा दसों दिशाओं का विनाश साधन प्राप्त करने के लिये तत्पर हो जाती है ।

आजमेर से तापी तक अपनी विजय घोषणा कर, गर्व में मदभृत इस आदि सम्माट की भयानक गर्जना से देव और दानव भी बंपने लगते हैं।

और शिशु इसके दुःसह तेज को किसी तरह भी महन नहीं कर पाता।

और शिशु आते हुए देखता है इससे भी अधिक तेजस्वी, -योति-धर्म, भगवान जमदग्न्य, संस्कारी और शूर विनाशक, नक्षत्री का निश्चल संकल्प करते हुए।

शिशु ने देखी, उसके परशु की चमक परम तेजस्वी और दुसरह राजवंश-संहारिणी तथा खंड खंड में आर्यत्व की विजय का विस्तार करती हुई।

भागवं राम को यह देखता है, कार्तवीर्य का संहार करते हुए, माहिष्मती का विष्वस करते हुए, अपने पराक्रम से विजित पृथ्वी कश्यप को दान में देते हुए।

फिर यह देखता है भगवान्मणों से थकी हुई उसकी प्रचंड तेजस्वी तथा एकाकी मूर्ति, गमुद्र तट पर खड़ी हुई। बृद्धावस्था होने पर भी उसकी आँखों के तेज में संस्कार और शक्ति की विजयध्वजा फहराती हुई।

असीरिया और मिश्र से धन बटोर कर लाती हुई गुजराती प्रजा इसकी दृष्टि के सामने आती है। भीष्म और कर्ण जैसे उदीयमान युद्धाकांडी इस मगाहुर की कीर्ति के संशाखों से अपनी मानवता का निर्माण करते हैं और इसके छन्द के नीचे आर्यावर्त के संस्कार सृष्टा रेवा तट को वेदमृत्तचाओं से गुंजा देते हैं।

—शिशु इनकी पदरज गाथे पर चढ़ाने जाता है और पूज्य भाव के भार से पलभर के लिये मूर्ञित हो जाता है।

—और आते हैं सौम्य तथा सत्यप्रिय, मुनि मार्कंडेय, तापीतट पर धूम कर शिष्यों को संस्कार और सत्य का आदेश देते हैं।

उनके विशाल भाल पर इतिहास के दर्शन होते हैं।

हरिश्चन्द्र जैसे राजाओं के जीवन रहस्यों का पता लगा कर वह आर्यवर्त के परम विशुद्ध आदर्शों को गुजरात में स्थापित करने के लिये उद्यत हैं।

—और शिशु के हृदय में पूर्वजों की शुद्धि का संचार होता है।

—और शिशु को दर्शन होते हैं विजय मूर्ति वासुदेव के, मल्लों से भी शक्तिशाली तथा देवों से भी दैदीप्यमान।

इसकी आँखों में रमने वाली विलास की तरंगें राजनीतिशता के गांभीर्य और बुद्धि के तेज को ढाँप देती हैं।

शिशु गुजरात की मस्त, विलासी और राजनीतिश प्रजा के प्राण को; समस्त भारत को नचाते हुए, मगध और आसाम को कँपाते हुए, हस्तिनापुर के सिंहासन के साथ क्रीड़ा करते हुए, पार्थ और दीपदी के साथ रहते हुए तथा रुक्मिणी की आकांक्षाओं को पूरा करने वाले पीतांबर धारी को, द्वारका की बैभव भरी गलियों में विचरण करते हुए देखता है।

इसको देखा कि तुरन्त मुग्ध हुआ, मुग्ध हुआ कि तुरन्त प्रणिपात किया—प्रणिपात किया अर्थात् भक्ति विभोर बन कर जीवनमुक्ति ग्राप्त की।

—और माधुर्य के आवेश में शिशु ने उच्चारण किया : देवकी परमानंदम् कृष्णवंदे जगन्नुरम्।

—और देखा कविवर माघ, श्रीमाल के सरोवर के किनारे पर अर्थ गौरव तथा पदलालित्य के रत्न बीन कर शब्द ब्रह्म की सेवा में मस्त। कालिदास की स्पर्धा और अमरत्व की आशा से गुदशुदाये हुए हृदय से आकुल।

—“शिशुपाल वध” की रचना करने वाले इस गुजरात के साहित्य शिरोमणि को अंजलि देते हुए शिशु का हृदय भर आता है।

—और आता है, गुर्जर भूमि का स्वामि, चालुक्य वीर मूलराज, पाटण को दिविजयी करने में तत्पर, श्रीमात का संस्कार। स्वामियों को गुजरात में बसाने वाला। विद्याविलासी विशाल चक्षुओं में चमकते हुए राष्ट्र विधाता के गहन तेज के साथ कच्छ, सोरठ और लाठ गुजरात को एक करने का मार्ग खोजते हुए।

वे गुर्जर भूमि का डंका वज्राने के लिये अधीर दिखाई देते हैं।

—और शिशु से युद्धोत्साह में “जय सोमनाथ” की घोषणा उच्चारित होती है।

—और आता है, गुर्जर गौरव की विजय घोषणा करता हुआ, स्वाधीनता की सिद्धि में अविरत बाणावलि सहश भीम; रक्त पिपासु नेत्रों से और धायल अङ्गों से; निराश सेना का वह आशावादी नाथ।

पूर्वजों के इष्टदेव के लिये वह मरनेवाला है। इसके हाथ थके हुए हैं पर साहस नहीं थका। इसकी सेना दृढ़ गई है पर अद्वा अविचल है।

गजनी के दाक्ष दल को पराजित करती हुई—स्वतन्त्र गुजरात की इस मूर्ति को शिशु देखता रहता है।

और प्रचंड डग भरता हुआ आता है गुर्जरेशों का एकमात्र सम्राट, निःसीम समर कीड़ा में सहस्रार्जुन सहश, पदरज से दसों दिशाओं को अन्धकारमय बनाता हुआ, बर्बर विजेता, जयसिंहदेव सिद्धराज; सहस्रलिंग के तीर पर चारों ओर विवेक की वर्षा करते हुए।

महाप्रतापी इस नरवीर को, स्वतन्त्र गुजरात को गौण्डान्वित करता देख कर शिशु प्रसन्न होता है। अजमेर से कोल्हापुर और सिंध से बुन्देलखंड तक विजय अंजा की फफराती धाक देखकर वह गर्व से देखता रहता है।

.....“और फिर आता है, पाटणनाथ का प्रेरक, कलिकाल सर्वज्ञ, हैमचंद्राचार्य, अदिष्ठा भूमि गुजरात को आर्थत्व के संस्कार मन्दिर में स्थापित करता हुआ।

सर्वांगी बुद्धि का तेज उसके मुख पर है। पाणिनी और ममट की स्पर्श करने की उक्कंडा उसके नेत्रों में है और तट पर खड़े हुए को स्पर्श किये बिना ही सरिता की तरंगें चलो जायें ऐसी लालसायें इस बीत-रागी का बिना सशं किए हुए ही वही चली जाती हैं। उसके अन्तर में तंब्र अहिंसा की धुन है और उसका प्रसार करने में वह किसी भी कला का उपयोग करते हुए नहीं डरता।

—गुजराती विद्वत्ता की यह मूर्ति, शांत और स्वस्थ, शिशु का अन्तर कंगायमान करती हुई चली जाती है और पूज्यमाव का स्पर्श करने में भी विस्मृत सा देखता रहता है।

.....“और आता है करताल बजाता हुआ भाभी के व्यंग्य वाण से घायल भोला नरसिंह, जिसने कल्पना की सृष्टि का निर्माण किया, और उसी में अपना घर बसाया। जिसने शक्ति साधना कर रास के दर्शन किये और पुरुषत्व को त्यागकर गोरी पद अपनाया। जिसने राधाकर कृष्ण का प्रेम जैसा देखा वैसा गाया और भक्ति रस से संभार को भिंगो दिया; और जो वैष्णव पद प्राप्त कर गगनविहारी सचिदानन्द के हृदय भूले में झूला।

उसकी हृषि भक्ति लालसा से ओम में ठँड़ी हुई है। उसके अन्तर में प्रिय की प्रतीक्षा करती हुई अभिसारिका की तड़न है, “विहृननाथ” को वह आत्मकर और अधखुली आँखों से सम्बोधित कर रहा है।

वह कवियों का कवि, भक्ति गान में तल्लीन गुजरात में प्रणय रस का पराग उड़ाता हुआ, गोरीजन बळभ के पीछे पागल बना हुआ थूम रहा है।

—निरंकुश प्रेम पद प्राप्त कर वह सन्देह विचरण करता हुआ बैकुण्ठ में चला जाता है और गुजराती हृदय की एक प्रतापी उमि का शिशु को दर्शन करता है।

.....“और किर आता है बृद्ध और वाग्पटु बडौदा निवासी भद्र

प्रेमानन्द, गली-गली को गागर की ध्वनि से मुर्ख करता हुआ, कल्पना मोहिनी से नर और नारी को रिभाता हुआ ।

इसकी गागर में से उत्साह और वीरता गरजती है, इसकी बाणी में से गुजराती का माधुर्य भरता है । इसकी महत्वाकांक्षा एक दूसरा छोटा 'व्यास' होने की है, गुजराती भाषा के गौरव का रस डाल कर संस्कृत शैली निर्माण करने की है ।

जब एक-चित्त श्रोता वृन्द में इसकी प्रचंड आवाज गरजती है तब नल और भ्रुव सजीव बनकर गुजरात को मुर्ख बना देते हैं ।

.....और फिर आता है प्रणय राग की बॉसुरी पर अँगुलियाँ रखता हुआ, गरबो^{**} की धुन से हृदय हरता हुआ, रेवा के रम्य जल में सुखाकृति निहारता हुआ स्वरूप मुर्ख, डभोई का सत्त्व सदृश, बॉकी पगड़ी वाला दयाराम ।

.....और आता है बड़ताल निवासी, स्वामी सहजानन्द, अज्ञनियों और असभ्यों को, सदाचार का पाठ पढ़ाता हुआ । सुधारकों का शिरोमणि । यह धर्म के प्रभाव का प्रसार करता है, अधमों का उद्धार करने के लिये, पतितों को पावन करने के लिये ।

और आता है दादाभाई नौरोजी, शांत सरस और प्रामाणिक, व्यवस्थित उत्साह का प्रणेता ।

—और विद्वत्तामरी राजनीति से परावीनता का संहार करने में तत्पर इस महात्मा को स्वराज्य का अमरमंत्र उच्चारित करते हुए शिष्य देखता है और उसका हृदय उछलने लगता है ।

.....और आता है वेद गर्जना करने वाला दयानन्द, आर्यत्व की दिग्बिजय साधना करता हुआ ।

इसकी दृष्टि विश्वकर्मा की सी है; इसके हृदय में सिंह का सा साहस है; इसके शब्दों में ब्रह्माज की सी प्रलय है, कार्तवीर्य के से

* गुजराती गीत ।

आवेश तथा हैमचन्द्र की सी विद्रता का भंडार आर्यसंस्कार की भक्ति में एक निष्ठ, स्वातंत्र्य सङ्घठन और स्वधर्म के गर्व का प्रसार करता हुआ आर्यवर्त को सजीव करने वाले मंत्र की खोज करता हुआ। वह प्रतापी महर्षि सिंधु तट पर विजय ध्वजा का आपेयण करता हुआ दिखाई देता है और शिशु के हर्ष का पार नहीं रहता।

.....ओर फिर आता है, उत्साह विभीर सुरत निवासी, फक्कह नर्मद, नवयुग के सन्देश की ज्योति लेकर, जैसे निकलती हुई रवि किरणों के स्पर्श से सङ्गीत सृष्टि कर देने वाली नवीन आभा लेकर।

वह निर्बल है, धनहीन है, अस्वस्थ है, पर उसकी आँखों में प्रेरणा है, अन्तर में नवीन चेतना है, धाणी में वीर का विजय धोष है। गुजरात का फिर से नवसृजन करने की उसमें आकोक्षा है। साहित्य और जीवन का वह नवयुग स्थापित करना चाहता है।

—ओर उसके उत्साहित अन्तर में से निकलता हुआ लावा चारों ओर फैलता हुआ, विनाश करता हुआ, सृजन करता हुआ और सृजनकार्य की सेना को प्रेरित करता हुआ शिशु को दिखाई देता है।

.....ओर आता है जमशेद जी दाटा गुजराती साहस का अर्वाचीन अवतार, नवीन उद्योग और प्रयोग का आरंभ करता हुआ हिंद के दाविद्रय से वह दुखी है; उसका विनाश करने की उसने भीष्म प्रतिशोखी है। गुजराती बनियों के व्यापारोत्त्साह का बारिस समुद्रों को उड़कों की तरह सरल बना देता है।

.....ओर साथ में आता है, फीरोजशाह मेहता, व्यवस्थित स्वातंत्र्य युद्ध का आदि नायक राष्ट्रविधान, नगर विधान, और 'शिव्वण विधान' ऐसे तीन भुवनों को धारण करने वाला। गुजराती ड्यावहारिकता से देशभक्ति प्रेरित कर अर्वाचीन युग की प्रगति साधने के लिये तत्पर वह निर्भय वीर ललकार करता है.....

ज्योतिर्धरों की इस पंक्ति के अन्त में आये; जैसे कोई प्राचीन ईश्वरांग श्रवा चीन सुष्ठि में भूल से अवतरित हो गया हो ऐसे महात्माजी।

वैराग्य और सत्यनिष्ठा, सेवाभाव और समहष्टि, आदर्शमयता और ईश्वर प्रणिधान में प्राचीन महर्षियों का दर्शन कराते हुए।

राष्ट्र स्वातंत्र्य की सिद्धि में प्रलय की सृष्टि कर देने वाले, कार्तबीय सहश दिग्विजयी; शुद्ध संस्कार की संस्थापना में उच्चात, परशु विहीन जमदग्न्य सहश।

जगत् कल्याण के अविरत उत्साह में समस्त जीवन का समर्पण करने के लिये निकले हुए शाक्य मुनि की तरह।

आह्सा विनोर गुजरात का ऐसा एक और अतुल ज्योतिर्धर प्राचीन और श्रवा चीनता की सीमाओं को एक कर देता हुआ आता है। और व्यवन रो नर्मद तक के तेज इसके तेज में निलकर भविष्य के क्षितिज पर एक नवीन ज्योति तथा आलहादक प्रकाश की सृष्टि कर देते हैं।

इन ज्योतिर्धरों की परंपरा चलती रहती है, एक दूसरे के तेज में छुट्ठि करती हुई, अनुपम रंग से दिशाओं को चमकाती हुई नवीन तेज से अनुगामियों की दीपिकाओं को प्रकाशित करती हुई।

—और इन ज्योतिर्यों की ज्वाला एकत्रित कर अपने दुभाले हुए प्रदीप को जीवित रखने का प्रयत्न करता हुआ शिशु सविता नारायण को अर्थ देते हुए, किसी निर्जीव ब्राह्मण सहश वरेण्यमर्ग को इस भव्यता से प्रभावित होकर प्रार्थना करने लगता है।

श्रेरे ज्योतिर्धरों! मेरे वैद्य को प्रकाश दो और गुजरात में अपनी ज्योति की चेतना से एक नव-जागरण ला दो……”

इन सबके दर्शन से कृतार्थ शिशु युग ये प्रवाहित गुर्जर संस्कार के महानंद में नहाया। उसकी तरंगां में नाचा, उसके प्रवाह में फिसला और उसकी अँखों का अँचकार बिलीन हो गया।

उसकी ध्यानस्थ दृष्टि के आगे सड़ा हुआ गुजरात, एक और अविभाज्य, अनादि और अनंत संस्कारों से जगमगाता। और इस दृश्यन से आत्मभान भूल कर उसने गुर्जरत्व का साक्षात्कार किया।

अपनी पुण्य मूर्ति के भावी स्वप्नों को देखता हुआ वह रसिक अद्भालु जो उसने स्वयं देखा उसे संसार को दिखाने के लिये कीर्तन करने लगा;

जय गौरव मर्यी गुजरात।

जय गौरव मर्यी गुजरात॥

४

शिशु की बुद्धि का विकास हुआ और अनुभव की वृद्धि हुई।

नवीन सिद्धांतों का प्रचार करने के लिये उत्सुक भित्रों के साथ में वह सभाओं में गरजा और पत्रों में व्याख्यान दिया। प्रजा का प्रतिनिधि होने का अवसर उसे मिला और स्वदेश भक्ति तथा ख्याति के साथ साथ वह उच्चति मार्ग पर भी आग्रसर होता गया।

सबल संगठन की सृष्टि करना गाँव गाँव में राष्ट्र संदेश ले जाना, स्वदेशी को शक्ति का साक्षात्कार कराना और अन्याय सत्ता को फटकारना ऐसे अनेक कठिन प्रयत्न भी उसने आरंभ किये।

धन की प्राप्ति, वरावर वालों का द्वेष, तथा बड़े लोगों का अविरत प्रेम ये प्रगति के प्रथम चिह्न उसने देखे।

विलंब से सत्य को छिपा देना, निर्धन को धन के भार से कुचल दालना, सत्य की खोज से पहले ही विजय छीन लेना, न्याय पद्धति के ये अंग उसने सीखे। साथ में सिद्धांत के रहस्यों की खोज करना, सम-

भाना, सत्य की खोज करना, अन्याय को रोकना, इस धाराशास्त्रियों के पुरथमय कर्तव्य पथ पर भी वह आग्रसर होने लगा ।

शिशु की इन दिनों की मोहिनी कुछ और ही थी और जैसे वह थी वैसी ही वह आविस्मरणीय भी थी ।

दृष्टि जहाँ जाय वहीं जाना और जाकर नवरस चालना; शक्ति के दर्शन और आत्म-शद्वा का आविर्भाव देखना, जी तोड़ परिश्रम में आनंद का अनुभव करना और बढ़ती हुई प्रतिष्ठा का विस्तार मापना । नवग्रास कीर्ति और समृद्धि देख कर प्रसन्न होना, कल्पना के विलास का साक्ष्य में समावेश करना, सामने विस्तृत पगड़ंडी के बढ़ते हुए प्रकाश की ओर दूर दूर तक फैली हुई रेखाओं का निरीक्षण करना । यह इसके जीवन का कार्य कम हो गया ।

विद्रन्मंडल का केंद्र जैसा सुन्दर तथा सुघड़ घर; सुखी और प्रिय उसकी अधिष्ठात्री देवी; क्रीड़ा कल्लोल करते हुये छोटे सुकुमार चालक सेवा भार बहन करते हुये नौकर ऊँचे उड़ते हुये कीर्ति ध्वज के गवं भरे फर फराडे । स्वस्थ कठोर और दुनिया से टक्कर लेने वाला धाराशास्त्री; इन सब वस्तुओं में गरीब घरराता हुआ शिशु कहाँ से दिखाई दे ।

इसके काव्य के जलते हुये अंगारे इस स्वस्थता की शीतलता में किस प्रकार जीवित रहे यह बहुत अधिक विचार करता ।

सती चतुर और सुखी इस मंदिर को सुशोभित करती । गुडिया सी छोटी और सुन्दर बुद्धि या दृश्य के प्रभाव से अछूनी, सरस और कर्तव्य-परायण, भली और पतिभक्ति-विहङ्ग । वह जैसी थी वैसी की वैसी ही रही । घर के बर से ही उसका सर्वत्व था । उसके लिये शिशु स्वर्ग में विहार करने वाला देवता या अस्पर्श और पूज्य ।

उसके संसार सुख की वह समभागिनी नहीं । उसके अंतर को मरने वाली भावना को वह नहीं जानती । इन बातों के बिना समझे ही वह शिशु को आदर्श की आग से झुलसाती ।

शिशु भी बना रहता था, स्वस्य, स्नेहमय, और कर्तव्य दक्ष, संसार की सहधर्म-चारिणी का सन्मान करता हुआ हिंदू संसार का आदर्श पति ।

सखी विरह के आघात सह सहकर उसका हृदय अब बहुत कठोर बन गया था । हजारों रात्रियों के आकंद से वह जान गया था कि संसार में उसकी जीवन साथिनी पैदा ही नहीं हुई थी ।

विजय पंथ पर आग्रसर होते समय कितनी ही सुवासी, सुकुमार और कमनीय युवतियाँ इसको मिलती और कोई कोई तो नीचे झुककर उसके चरणों पर परिमल भी चढ़ाती ।

पर कठोर आत्म-गौरव में काँची शील वह अपने मांग⁹ से मुड़कर न देखता ।

इपहले पट पर दिखाई देने वाली चलचित्र सदृश स्त्री-सृष्टि में उसे रस न मिलता था । कल्पना संसार की एक ही सुन्दरी उसके हृदय में बसी हुई थी—जीती, जागती, जाज्वल्य, जीवन विधात्री ।

संस्कार का दोग करने वाले मित्रों को जब वह छलपूर्ण बातें करते हुये सुनता तो खेद से पीड़ित होकर वह कुछ न बोलता ।

प्रतिष्ठित दुनिया प्रेमियों को घर की स्त्री छोड़ कर तबलची द्वारा दिया हुआ पान चवाने वाली साधारण वेश्या के अधरों का रस पान करते हुये सुनता तो उसके प्राण शुष्टने लगते ।

स्त्रीत्व को कलंकित करने वाले इन दुष्टों के सार्थ से वह शुणा करता और उनको सम्मान देने वाले समाज का वह तिरस्कार करता ।

स्त्री मात्र उसके लिए थी अवनी की अधिष्ठात्री देवी, माता, सहचरी, भगिनी या पुत्री के रूप में पतित पावनी उसकी प्राणेश्वरी का किसी न किसी अंश का अवतार; और संसार का उदार करने वाली योगमाया सदा ही सेव्य और सदा ही पूज्य ।

बही मुश्किल से रचे हुये, इस धरातल के नीचे हृदय का जलता
हुआ तीत्र प्रवाह वह रहा था।

वाद्ययंत्र को छेड़ते हुये जाने अनजाने अंगुलियाँ उसी गीत के स्वर
निकालती—

मने तारा बगेर नहीं रचते रे,
आवी पूरो हृदय की आशा.!
मारा राजा।
मुझे भूल गयो है, मारो छेल ढोरे
और संसार में एक अंधकार छा जाता।

दो तेजस्वी नैत्र व्योम के उस पार प्रतीक्षा करते करते यक गये
प्रतीत होते। आपर्थिव होने पर भी स्नेहमय हास्य की प्रनिधनि में
विरह की झंकार सुनाई देती और गंभीर अनिवार्यनीय खेद से उसका
संसार खारा हो जाता। काँपते हुये कंठ से और गीली आँखों से वह
गा उठता—

जल-थल के बीच जहाँ विश्व की दिशाओं में,
कहीं भी बसी हो मेरी प्राण प्रियतमे!
मेरा प्रेम-पूर्ण पहुँचे प्रणाम वहीं,
जहाँ भी बसी हो मेरी प्राण प्रियतमे।

ओढ़-ओढ़ से दबाकर वह काँपता हुआ धारा शास्त्र का आश्वासन
खोजने लगता।

अनेक बार एक रमणीय-गिरिश्चाल पर एकाकी आकुल हृदय को
आश्वासन देने के लिये अकेला घूमता।

मोटे हरे वृक्षों के चँदोवे के नीचे, हिलते हुए फूजों से भरी हुई
झाड़ियों के बीच बन देवियों के सुकुमार चरण सर्श के लिए बनाई हुई
पराङ्मिद्यों पर होकर वह जाता।

कोयल कूकती और कभी-कभी बोलती बुलबुल ! और उसके बिरही हृदय में उनकी कुट्टक-प्रतिष्ठनि आधात पहुँ नाती ।

मलथ मस्त गिरि गहरों में मूँसंगीत गाता और सृष्टि गान-मुग्ध होकर ढोलती ।

नीचे के कुज्जों में, खालिये की बाँसुरी यमुना के उम किनारे पर बजती, राधा को रिभाने वाले नटवर की बाँसुरी कैसी मोहक ध्वनि से संध्या की आलहादकता उरे जित करती ।

स्थल, काल और संसार एवं साथ में चेतना भी विलीन हो जाती ।

वह अब जाता एक मात्र प्रणयी, हृदय को निराशा भरी तड़पन से मथ डालता ।

कोई काकड़ाधृषि ऊँची गर्दन कर, ऐसे सुनसान मार्ग में घूमते हुए आकुल और दुन्धी प्रणय पथिक को देखकर विस्मित हो जाता, उसे उस पर दया आती और वह चल देता । भाड़ी में से जाते हुए की उसकी पग ध्वनि निःशब्द शान्ति में प्रतिष्ठनि होती और वह प्रतिष्ठनि इस प्रणयी के कान में पड़ती...यहो यह पगध्वनि—शैशव से परिचित.....

...इसकी सखी आती, सदा ही परिचित की तरह परिमल प्रसारती; और जन्म जन्मांतर का भूखा शिशु उसका अन्तर के अर्ध से सत्कार कर, उसके साथ चलता ।

मठ पवन से हिलते हुए पत्तों में से उसका सुपधुर स्वर कान में पड़ता जैसे बीणा पाणी भी बीणा से निसृत हुआ ध्वनि प्रवाह । उसके उड़ते हुए केशों का नृत्य को बह देखता ।

और वर्षों की उसकी विहळता शान्त हो जाती ।

जैसे तारिकाओं के तेज से बनी हो ऐसी सखी बाहुलतायें फैलाती ।

कई प्रकार का हिरन ।

उगते हुए सूर्य प्रकाश में मरुी पर चढ़े हुए राजहंस जलविन्दु उछाल कर एक दूसरे को छीटे दे रहे हों ऐसा उसका उल्लास—आधीर, गम्भीर और विशाल नेत्र गोले हो जाते.....

शिशु के प्यासे अधर कोप उठते और उसके मादक नेत्र आनन्द भार से छुनक पड़ते ।

गन्ध मादकता तथा गुवासपूर्ण वातावरण में वह एक चुम्बन की सुरसुरा ट मुनता न सुनता.....। और पवन की क्षर सुरसुराहट प्रणय के प्राण सदृश इस मधुर नाद को दूर ले जाती, बहुत दूर.....

अपनी बाल सखी के पंछे वह सहसा कूद कर दौड़ पड़ता ।

पुरुष के दुर्गम्य से घिरा हुआ वह लाता और बृक्षों में अपनी प्राण को खोजता ।

एकाकी संसार का अन्धकार उसकी आँखों के सामने आ जाता । वह अधीर और उन्मत्त दसों दिशाओं से हाथ जोड़कर पूछता “सखी कहाँ ? सखी कहाँ ?”

वह पत्थर पर निराधार सा बैठ जाता और आँख में से रुधिर से भी अमृत आँसू बहते ।

माथा कूटकर, कोध से काँपती हुई आवाज में वह इस प्रकार बोलता है से कोई विश्वद्वेष्टा संसार का संहार करने को उद्यत हो ।

निराशा, निर्ममो भूत्वा, युक्त्व विगत ज्वरः ।

वह घर जाता, बालक और स्त्री उसका हर्ष कल्पोल से सत्कार करते । रोते हुए हृदय के वह आँसू रोक कर हँसता और हँसता पर अपने को और दूसरों को धोखा देने वाला वह द्विमुखों कपटी है इस प्रकार वह अपने की धिक्कारता ।

कभी गिरि शिखर से क्षितिज की ओर देखता, हृदय की दुर्बलता को भुलाने के लिये “आत्मचेव आत्मना तुष्ट” * होने का महान् पर निष्कल प्रयत्न करता ।”

* अपने में ही अपने से संतुष्ट ।

काम, काम और काम—दिन और रात एकनिष्ठ और सर्वभक्षी—इसी में उसे निर्वाण दिखाई दिया ।

एक दिन स्वस्थ और शांत शिशु निकलते हुए सूर्य की आराधना करता हुआ, भगवान् शङ्कर के मंदिर-शिखर के स्वर्णिम कलश पर इष्टिकाये हुए खड़ा था ।

एक मित्र ने उसे आवाज दी, उसने नीचे देखा ।

रास्ते में मित्र के साथ एक सुन्दरी चली जा रही थी । दै तेजस्वी आँखे उसे देख रही थीं । सूर्योदय होने पर जैसे कमल ऊपर देख रहा हो इस प्रकार उसका मुख उसकी ओर लगा हुआ था...“

एक पल के बाद दोनों चले गये और इस सुन्दरी का गति सौंदर्य वह देखता रहा ।

एक कभी न सोची हुई सहज समाधि से वह जगा हो इस प्रकार वह बैठ गया ॥ “अम में पड़ी हुई आँखों को मलता हुआ ।

“यह कौन ? यह आँख—यह मुब्र—यह चात कहाँ देखी ?”

इन प्रश्नों के उत्तर की प्रतीक्षा में वह खड़ा का खड़ा रह गया ।

कई बार वह जिजासा का तिरस्कार करता हुआ खड़ा हो गया ।

दूसरे दिन उसे पता लगा इस मुख की मलिका फिसी दूसरे नगर से आकर पड़ोस में ही रह रही थी । उसके मित्रों की वह मित्र थी, और वे कहते कि वह चतुर, संस्कारी और परिचय योग्य है ।

शिशु हँसा और उसने कहा “खियों से परिचय करने का मुझे शौक नहीं ॥”

रात को ही सती ने हँसकर कहा, “तुम्हारे काव्यों की एक भक्त उनके खेलक की दर्शनाभिलापिणी है ॥”.

हँसकर शिशु ने उत्तर दिया, “भक्त के आधीन यह भगवान् नहीं ॥”

जैसे वह इस गर्व को ललकारती हो इस उकार को मल और मजाक के मनोहर स्वर में वह बोली “कविराज ! आऊ क्या ॥”

दरवाजे में हँसते मुख से, और नाचते हुए नैनों से, तेजस्वी और निखरी हुई छुटा से वह खड़ी थी ।

वह बैठ गई, हँसती, बात करती, प्रश्नों का तोंता लगाती और शिशु के काव्यों की समालोचना करती हुई ।

सावधान, स्वस्थ और गौरव गम्भीर, मजाक से अंतर के भावों को ढाँकता हुआ वह भी बैठा रहा ।

वह गई और शिशु ने निश्वास छोड़े । उसके स्वरों की प्रतिष्ठनि उसके कान में पढ़ती रही, उस मुख का तेज उसकी आँखों में बस गया । वह मंद मंद चती, उसकी गति ने शिशु के अंतर को नचा दिया । उसके संस्कारी वार्तालाप ने उसकी रसिकता को पिपासु बना दिया ।

और ऐसे मोटी स्पष्ट रेखाओं में कोई रसिक और चतुर चित्रकार तेज छाया की समृद्धि पूर कर प्रतिमा का निर्माण कर दे इसी प्रकार अपनी सखी की सूक्ष्म रेखाओं में वह स्वर और मुख, गीत और वार्तालाप, सजीवता और समृद्धि भरने लगे ।

पल भर की इस भ्रममयी माया के लिये वह अपनी आत्मा का तिरस्का करता हुआ, हृदय के गाम्भीर्य को क्रोध से देखने लगा ।

सखी की दैवी, विशुद्ध स्वर्यमयी मूर्ति को पृथ्वी की यह लोहसंड की प्रतिमा कैसे हटा सकती है ? क्या कल्पना विकृत हो गई ? हृदय में क्या कोई चोर बुस गया ? भावना की शुभ्र गंगा क्या इस प्रकार पतनोन्मुख हो गई ?

“न यह हो ही सकता और न यह संभव ही है”, यह बड़बड़ता हुआ कहीं ऐसा न हो कि उसकी जूति डगमगा जाये इस छर से मुझी भीचकर हृदय विचार करने लगा ।

वह उससे फिर मिला पर, दूरी का कबच पहन कर । निष्ठुर बन कर उसने अपनी अंतर भावनायें कुचल डाली । विशाल पृथ्वी थी पर

इससे उसे क्या ! बालसखी का प्रणयी और सती का पति ऐसे उस शिशु की थी केवल एक ही हृषि ! ‘‘योगः कर्मसु कौशलम्” ।

कटोर हृषि से उसने हृदय को मौन रहने की आशा दी और मौन से भी कठिन था वह कर्तव्य ।

पलभर के भूकंप के अवशेष चिन्ह विस्मृति के आवरण से उसने ढाँप दिये ।

किसी ने एक छोटा सा भी निश्वास उसके मुँह से निकलता हुआ नहीं सुना ।

सती कभी कभी उसकी बातें करती और वह तिरस्कार का सा अभिनय कर उसकी बात सुनता ।

अनेक महीनों के पर्यटन की अनुभव समृद्धि से दीप्ति फिर वह एक बार मिली । वह हँसी । विशाल नेत्रों ने पलभर के लिये संसार के अंधकार को भेदा और शुक्लांघरी, तथा रुद्राक्षधारी किसी पुण्य भागी तापसी की तरह वह अल प हो गई ।

शिशु की सृष्टि में मलय मारुत् का एक सुवासित भक्तोरा आया ।

वह हास्य और नाचते हुए नेत्र, वह हृदय की चंचलता, वह मर्त्य का चमत्कार; वह मर्पशशी वाणी, वह मनोहारी माधुर्य, वह सम्राज्ञी सुलभ तेजस्विता और देवियों की सी प्रेरकता उसने जन्म से अपनी बाल सखी में जो देखी थी वह—कल्पना विलासी कवि द्वारा मेघ-माना की रंगमोहिनी में दिखायी देने वाली किनी अप्सरा की नहीं थी । पर वह देवी मृत्युलोक में उतर आयी थी; और अब विहार करती फिरती थी, अपने लालित्य का विस्तार करती हुई ।

करे छो योजन दूर, अलग अलग वर्ण और अलग अलग संसार के विभिन्न सूर्य मंडलों में रहने पर भी हन दो हृदयों में एक शात्रा का तालब दर्शन, अनिचितता के बीच में पड़े हुए पर्दे के आरपार सुनाई देता……

और उसे विश्वास हो गया कि उमकी बाल सखी ऐसी कठोर नहीं थी। दोनों एक लोक में ये भले ही वह मृत्यु गोक हो;—शानों एक स्थान में थे, भले हो ज्योतिर्माँजा विमिन्न हो; दोनों अंत में मिले ये भले ही परिचय अशक्य हो।

हिमगिरि पर स्थिर पवामी सूर्य किरणों से जो प्रभा फैजती है ऐसे ही उल्लास से उसके हृदय में एक नवचेतना जागृत हुई।

पर उराका जबन कम तो जैसा था नसा ही रहा।

वह अभिलाषी नहीं था, उन देखने का या उमसे मिलने का, उसे पर्वाह नहीं थी परिचय बढ़ाने की, पर उसके कंधे पर कर्तव्य परायणता का जो जुआ रखा था उसका बोझ कुछ हलका हो गया।

पृथ्वी अब व्यर्थ नहीं थी।

उसके विशाल पट पर एक ऐसी मूर्ति थी जिसकी स्मृति से जगत् के रंग बदल जाते और जिसके दर्शन से आत्म दर्शन होता।

कल्पना मृष्णि की सूक्ष्मता त्याग कर मानव देह की मोहिनी में अद्भुत उसके जन्म जन्मानरों की सखी, शशिलेखा सदृश, कौमुदी से भी अधिक प्रकाश करती।

दूर और स्पर्श व्योम में इन लेखा की मूरक स्तोत्रों से स्तुति करने में ही शिशु संतोष मानने लगा।

५

बन के उपर्जन और व्यय से असन्तुष्ट शिशु ने सेवा भाव से पेरित होकर सरस्वती की आराधना आरंभ की। विद्वानों को दिया उसने निर्मलण; और उनकी सहायता माँगी। साहित्य सृजन की नवयुग ज्योति की तरह उसने अपना अस्तित्व बनाया।

उसने कल्पना समृद्धि की वृद्धि आरंभ की और अपने अनुभव

में दिखाई देने वाली शक्ति और सरसता की आदर्श रेखायें खीचना आरंभ किया ।

ईश्वर की बनाई हुई सृष्टि को सुधारने के मोह में उसने एक काव्य की रचना की । उसमें शिषुओं और सखी दोनों हाथ में हाथ डालकर विचरण करते, स्नेहमय, संक्षकारी और समस्वभाव वाले दम्रति के रूप में । इस जन्म में जो विनष्ट हो गया था उसे कल्पना सृष्टि में समृद्ध किया ।

शीतल और सुरग्य गिरिवर पर आनंद और शक्ति खोजता हुआ, एक दिन वह आकेला था ।

उद्दीप कल्पना की धुन में, मेघमय वृक्षावलियों में घूमते हुए उसने अपने अन्तर की कल्पनाशक्ति देखी और उसका अनुमान लगाया । सुख वैभव और प्रतिष्ठा में भी उसके प्रणय की भूख जितनी थी उतनी ही रही ।

काव्य सृजन में व्यय किया हुआ कल्पना विलास याद कर, उसे कोयला चबाने वाले की तरह रोमांच हो आया । संसार अधूरा और शुष्क लगा और उसके हृदय से वेदनामय उद्गार निकले ।

क्या मैं सदा ही, प्रणयिपासु, सखि के विरह में एकाकी जलता रहूँगा ।

जैसे इस पुराने प्रश्न का जवाब मिला हो इस प्रकार घर आने पर उसे झुन्दर और श्वेत कपोत की तरह एक लिफाफा मिला अपरिचित आँखों में लिखा हुआ । और जैसे जन्म जन्मातरों की प्रार्थना के फल-स्वरूप, इष्टदेव की मैत्री का दिव्य सन्देश कोई भक्त दीन हृदय से सुने इस प्रकार उसने वह पत्र पढ़ा ।

वह उसका था ।

सखी ने कवितायें पढ़ी थीं ; धृष्टा के लिये क्षमायाचना की थी ; और किरदूर रहने का आँखेप किया था ।

।

शिशु कंपित हृदय से काव्य पढ़ने लगा । उसने एक कविता पढ़ी,
पंक्तियों में उसके प्रश्न की ही स्पष्ट प्रतिव्वनि थी ।

विरही जीवन का सूना पथ,
क्या एकाकी ही बीतेगा ?

सौभाग्य की बलैया लेते हुए हृदय की धड़कन को रोकने में अशक्त
उल्लास तरंगों में नाचता हुआ, वह बार बार काव्य पढ़ने लगा ।

गिरिशृङ्खलियों का अन्धकार भेदती हुई, नव सृष्टि की कोई
अद्भुत पहेली हो ऐनी उषा किसी उच्च शिखर-कोण को सोनिल रंगों
से रंग दे ऐसी ही अभिनव आशा ने उसके हृदय में एक स्वर्णिम सृष्टि
का निर्माण किया ।

वह अकेला नहीं था, और न एकाकी जीवन व्यतीत करने के लिये
वह पैदा ही हुआ था । उसकी सखी उसके पास थी ।

उसके पैरों में पङ्क्ष लग गये ।

सपने में कोई गूँजता हो ऐसे सुगम्भीर संगीत को, व्योम में नाचती
हुई ज्योर्तिमाला के छुंधकओं ने नई नई ताल दी ।

वह भूखा न था, और न था एकाकी ही; जन्म जन्मांतरों के पट
चीर कर उसकी सखी आज उससे आ मिली थी ।

उसने कई बार काव्य पढ़ा और हर बार उसे दो कवि हृदयों का
सम्बाद सुनाई दिया ।

कर्तव्यमय जीवन के सूखे पृष्ठों पर एक रस बिंदु ढुलक जाय तो
क्या उसे भी उलीच फेंकूँ ? शरीर से परे यह विशुद्ध स्नेह भावना क्या
संयमी को भी शक्य नहीं । क्या जन्मजन्मांतर की सखी का सधर्म संग
इस संसार सागर की झोभा के लिये त्याग हूँ ?

इस प्रश्न परंपरा में उलझ कर उठने सखी का सख्त स्वीकार
कर लिया ।

उसने विद्वता को किया दूर और सारस्वत संप्रदाय की सुनहरी कंठी बाँधी और बंवायी, उसने पत्र भेजा इस आशा से कि दोनों काव्य सृजन करेंगे, हृदय पर पड़ने वाले आवातों को सहन करेंगे, और विधाता ने जिनको अलग कर दिया है वे अलग रहने पर भी, सरस्वती की आराधना में सनातन एकता के दर्शन करेंगे ।

शिशु के मार्ग^१ में डोलते हुए पुष्पों ने मार्ग^२ को ढक लिया; पक्षी बृंद ने गायी प्रभातियाँ; बृन्दों ने छाये सुन्दर-सुन्दर छन्द; आर उनके बीच से किरणों ने की पुष्प बृहिंठ। उसके हृदय-विहग ने समीर पर सवार हो, अद्भुत उल्लास गान आरम्भ किया ।

पश्चिम और पूर्व^३ सागर की लग्न ग्रन्थि-सदृश एकांत गिरिशंग पर वह गया । क्षितिज पर्येत एक दृष्टि डालकर इस उत्तास गान की ललकार से उसने ब्रह्मांड को निमंत्रण दिया और उसे विश्वास करा दिया कि जन्म जन्मांतरों का कोना-कोना छानने के उत्तरान्त उस आजन्म प्रणय-बाल को उसकी प्रिय रखी फिर मिल गई थीं ।

और यह कहानी सुन कर समस्त ब्रह्मांड आनन्द दे डोलने लगा ।

एक महीना बीत गया और मनकी बात मन में ही रही । सखी से मिलने का भी उसने संकल्प नहीं किया । केवल अलग-अलग नगर के रहने वाले प्राणियों का पत्रबाहक संयमी और विनय विभूषित संदेश लाता और ले जाता ।

पर विधाता का शासन न तो फिसी की समझ में ही आया और न कोई उसे लौटा ही सका ।

एक ही घर के अलग भाग में वह आकर रहेगी यह जानकर शिशु का मन हर्ष-मूर्छित हो गया ।

शिशु स्वस्थ और निश्चित एक दिन रात को बैठा बैठा काम कर रहा था ।

गगन मंडल में चक्कर कायता हुआ चकोर माधुर्य उँडेल कर, त्रिभुवन को नादरख से भर दे ऐ ग कोंकिल कंठीं संगीत, हृदय के गम्भीर भावों के नवनीत सदृश—सुमधुर, उर्मिल, और कंपायमान—कमशः उपर आकर उसका भवन भग्ने लगा ।

वह चौंका और सुनने लगा ।

कभी सुना न था पर किर भी सदैव याद था ऐसी इसके प्राण की प्रतिध्वनि ललित, मनोहर—अवतार परंपरा के अगणित गुंबजों में होकर, फिर उसके प्राणों में गूँजने लगी ।

प्रणय के सत्त्व का यह सरोद, वह उन्मत्त और भावविभोर हो एकलय हो कर सुनने लगा ।

संगीत रुका—

थोड़ी देर के लिये शांति का प्रसार हुआ—

“और सद्गमगान स्थूल बन गया हो इस प्रकार वह उनसे मिलने आयी;—जैसी थी वैसी ही, मदमस्त, गौरवशोल तथा विशुद्ध ।

जैसे एक साथ पेंदा हुए जन्न के ही सहचर हों इस प्रकार अव्यक्त पर गंभीर समझ से अपने परस्पर भावों को व्यक्त कर दे हैंसे और चौले !

जब संध्या का मंद समीर बहता और रात्रि की छाया फैल जाती तो सखी के पास आकर कोई नवीन बातें करता, कोई काव्य का उपहार देता, और कोई रसिक विचारों की समस्यायें सुलझाता ।

वहाँ प्रेरणा देती हुई, श्वेत बल्लों में सजी हुई, गले में रुद्राङ्ग की माला ढाले हुए बीणा-पुस्तक-धारिणि की तरह वह बैठी रहती ।

कभी कभी वह कुछ पढ़ती, पढ़ाती या दलरुदा के तार छेड़ कर संगीत की उन्मादक दिव्यता का प्रसार करती ।

जैसे सरस्वती की जीवित प्रतिमा के समक्ष भक्ति-विभोर-कवि ध्यानस्थ हो कर बैठे इस प्रकार शिशु पूज्य भाव धारणा कर वहाँ बैठता ।

दृढ़य, यह तो स्वामी का भी स्वामी, इससे अपरिग्रह की आकूलता कैसे सहन की जा सकती है ? प्रशान्त धार्ता की तृष्णार्त दृढ़य की प्लास भला कहीं बुझनी सुनी है ?

एक दिन शिशु के मुह से निकल ही गया :—

“मैं हूँ एकाकी और अभिमानी । तितलियों की तरह अस्थिर छियों का दरवारी होने के लिये मैं पैदा नहीं हुआ और साथ ही मुझे इन पाषाणी शारदाओं की आराधना भी नहीं आती ।”

हास्य की चमकती हुई मादक इष्टि से कलेजा बीधते हुए उसने उत्तर दिया—

“तितलियाँ उड़ती हैं फूल फूल पर, पर फिर दीपक में भी वे ही हँस हँसकर जान देती हैं…… सरस्वती पत्थर की है यह तो ठीक ही है नहीं तो उसे संसार में कोई भी जीवित न रहने दे”

एक संघ्या को दोनों गिरिशंग पर, उद्यान में जाकर खड़े हुए और दिव्यमंदिर में होने वाली आरती सुनने लगे ।

रात्रि के श्याम परिधान में सजा हुआ महानगर नीचे कैला हुआ था । दस हजार दीपक नन्हे नन्हे प्रकाश चिंदु से निराकृति मा रहे थे । रास्ते पर जुगनुओं की तरह कभी कभी मोटरों का प्रकाश दिखाई दे जाता और सागर शांत तथा आर्धवर्तुलाकार पहा हुआ था, दीपावलियों से संबृत ।

दोनों मृत्युलोक को नीचे छोड़ कर जैसे देवेन्द्र के अमर सिंहासन पर खड़े हों इस प्रकार खड़े रहे । नीचे जैसे तारागण चमकते हों, जैसे तारों की मेलला भूरे व्याम की कटि को सुशोभित करती हो और कैलाश में सुनाई देने वाली डमरू की ध्वनि, नक्षत्र-मंडल की दृढ़य घड़कन की तरह दिग्गजों को ताल बद्ध न चाती हो ।

“जानते हो ?” उसने निश्वास छोड़ कर पूछा “इस स्वातन्त्र्य-
युग में भी जी को मित्र मिलना क्या सहज है ?”

“क्या किसी ने पीड़ा पहुँचाई ?” हृदय के भाव दबा कर शिशु ने सहम कर पूछा, “क्या किसी की मैत्री ढूढ़ी ?”

मानिनी अपमान पाकर गर्व से बोली, “जो ढूट जाये वह मैत्री नहीं है—स्वातंत्र्यविहीन आर्य अग्नला को पुरुष परिचय तो केवल दोही प्रकार का हो सकता है—पति से या पागाचारी से । शुद्ध बुद्धि का सुहृद मिलना असंभव है । पुरुष के लिये स्त्री एक मात्र सुन्दर खिलौना, फुरसत में खेजने के लिये और मुसीबत में दूर कर देने के लिये ।”

शिशु का संयम जाता रहा । “असंभव भी संभव हो सकता है क्या इसका विश्वास दिला सकोगी ?” उसने काँपते हुए स्वर में अपनी आशा प्रगट की ।

वह रुकी और उसने आँख मीचलीं जैसे पवन का अस्पष्ट निश्वास आता हो इस प्रकार उसने उच्चारण किया, ‘अच्छा !’ और गहरा श्वास लोड़ा ।

शिशु का अंतर उल्लास से नाच रहा था ।

एक नवीन तन्तु से बँध कर बे दोनों बाधिम लौटे ।

जो हो सकता था वह किसी ने मुह से नहीं कहा और जो नहीं हो सकता था उसे कहना क्षुद्र लगा ।

इसी एक लय में मुग्ध शिशु धर जा कर सोआ । पलभर के लिये उसने आँखें मीचलीं और वह एक झारकी लौकर जग पड़ाएक अनुत नाठक उसे दखाई दिया.....

गंभीर, गोल, नीलाकाश में निःसीम भव्यता दसों दिशाओं में फैली हुई थी ।

सूटिं सुजन के समय की प्रशांत और सुनहरी उगा के अलोक में चमकती हुई सर्वांग सुन्दर, केवल एक आत्मा, दिरण गर्भ और आनन्द मन, निरंकुश हो बहो विचरण करती थी ।

एक दृश्य बीता.....

दिशायें काँपा, उषा अंधकार मय बनी और व्योम का तेज
द्वीण हुआ.....

विधाता को धित हुआ। स्वच्छुंद्र प्रकृति के आवेश में उसने
आत्मा से आत्मा का खंडन आरंभ किया। आत्माओं को चौर कर
उनके आधे-आधे टुकड़े अलग-अलग फेंक दिये।

एक आत्मा थी, शिशु की और सखी की, उसे भी उस क्रूर, निर्दय
विधाता ने चौर डाला और आधे आधे टुकड़ों को अलग-अलग जन्म
प्रवाह में डाल दिया।

शिशु और सखी एक आत्मा थे किंतु अलग-अलग होने पर उन्होंने
हृदय विद्यक कंदन किया।

उनका वरुणा जनक रुदन विश्व में व्याप्त हो गया। दिग्पाल
काँप उठे। आकाश का आकंद शांत नहीं हुआ। उषा आंशु बहाती
हुई निमंज बनकर रोने लगी।

विधाता ने अपने कठोर शासन का उच्चारण किया: “तुम एक
थे अब दो बनकर जन्म-जन्म में फिरना, एक दूसरे को खोजते हुये तथा
विरह शूल से विदीर्ण ।”

शिशु का आकंद शांत नहीं हुआ। “क्या आत्मा के बिना फिरू
जन्म जन्मातरी में ! क्या विरह की आग में जलू अनन्त काल तक !
है दयानिधि ! दया करो ।”

विधाता के निष्ठु छृश्य में दया का संचार हुआ।

उसने कहा, “किसी जन्म में अपनी उस आधी आत्मा से भेंट
होगी, एक दूसरे के नयनों में आत्मा के दर्शन करेगे;—फिर—”

“फिर क्या ? ओ फिर क्या ? कृगनाय,” शिशु और सखी
चिल्लाये.....और अंधकार फैत गया।

दोनों किसी तरह जुशा हुये.....और अंतिम विशुक्त के कॅपन की गगन गँबजों में प्रतिध्वनि हुई । कंपन.....अनंत और आकंदमय...दसों दिशाओं में सुनाई दिया ।

यम के रक्त गिपासु नयन भी भीग गये.....अनंत के अनेककंठी रुदन से विश्व हिल उठा ।...

इ । कंपन से चसित उम्र शिशु ने कहा :

“हमारी आधी-आधी आत्माओं ने एक दूसरे को पहचान लिया है । अब ये .ले ही अलग-अलग हो जायें पर किर भी दोनों अविभक्त आत्मा की सजंनसिद्ध एकता का पालन करेंगे”

इन शब्दों का उसने उच्चारण किया और आँखें खोलीं ।

उसे अपनी परिस्थिति का ज्ञान हुआ और रात्रि के अंधकार में वह एक मूक कल्पना से अपना हृदय चौगने लगा ।

बवराया हुआ, वह आत्मा की शांति के लिये गिरिशंग पर पहुँचा । कॉम्पटी हुई पृथकी, दूष्टे हुये पर्वत, फैलता हुआ लावा और झुँधवाते हुए, गमे तथा गहन धूम पट्ट में कोई स्पष्ट दर्शन साधने के लिये बैठे इस प्रकार वह प्रणय की कल्पना करता हुआ विरही तथा आदर्श सेवी मूर्ख वहाँ बैठा ।

उसने अपने शरीर का दमन किया । उसने विचार प्रवृत्ति पर धार रखली । गीतामृत पिया और ध्यानस्थ हो कर बैठा । और जहाँ-जहाँ कल्पना के बिलासों का अनुभव किया था वहाँ-वहाँ अपने पुरातन आदर्शों को सँझे था ।

उसने बहुत बहुत विचार किये ।

समाज ने ठोनों को अलग अलग अमैदा हुगों में बंद कर दिया था । अप्रतिष्ठा की श्रांच उसे नहीं लगी थी, सखी को वह उस आग में जलाना नहीं चाहता था । सती के सुखद क्षत्र की भी उसे रक्षा करनी थी ।

प्रतिष्ठा का पुजारी संसार क्या कहेगा ? एक आँख मीचकर उनका तिरस्कार करेगा ? हँसेगा ? जलायेगा ? भिन्नों में उनका सम्मान जाता रहेगा ? और धन का उपार्जन भी न हो सकेगा ? बड़ी कठिनाई से निर्मित प्रहृतंत्र पर ईर्ष्यां की रक्त-पिपासु आँख जम जायगी ? कलह जीवन को विषमय बना देगी !

वह थर थर काँपने लगा .

वह क्या करता था ? और क्या हो रहा था ? कर्तव्य परायणता के आदर्श से भ्रष्ट उस पतित, को पतितोद्धारिणी मंदाकिनी भी क्या पावत कर सकेगी ? क्या पुरुषनामी पूर्वजों के संस्मरण, नरक की बहिच्छाल के सहश उसको जला जलाकर खाक कर देंगे ? क्या चाण्डाल को भी अपिच्चित अधमता उसे घुला-घुला कर, पागल कुत्ते की मौत मार डालेगी ?

उभास और जागने से उसका शरीर जर्जर हो गया । उसका प्रत्येक पल दुःख में भीतने लगा । अपनी सखी का नाम पुकारते हुए उसकी सा रण और राम रोम स्पर्श मांक की कल्पना करने लगे ।

उसके कानों में था, केवल एक ही स्वर, और आँखों के आगे एक ही रुप । हृदय के गांभीर्य में भी एक ही नाम की गंभीर प्रनिष्ठनियों की परंपरा उठती । और क्षण क्षण में एक ही नाद होता “सखी कहाँ ? तु कहाँ ?”

जहाँ पहले इसके हृदय में बसने वाली सखी इसके साथ रहती थी वहाँ की प्रत्येक गली गली और पगड़ंडी पगड़ंडी पर यह भटकता किरा ।

पर अब “पंखीवन” की पगड़ंडियाँ इसका स्वागत नहीं करती थी और वेणु नाद में अब माधुर्य भी सुनाई न देता था ।

पवन उसकी हँसी उड़ाना और बनदेवियाँ उसको ओर मँह बनाती

मोटा और बड़ा काकड़ा छोटी सी नाक मरोड़ कर भाग जाने का भी कष्ट न करता ।

किसी ने भी दया न की ।

अपनी प्राण सहश सखी को दूर कर देने वाले प्रणय द्रोही की बात कौन पूछने लगा ?

वह 'पंची वन' पर जा खड़ा हुआ और एक वृक्ष के नीचे निर्वाण का आकाशी वह प्रणय-सिद्धार्थ जय और अजय, सुख और दुःख के दर्शन करने लगा ।

प्रणय धर्म से वह जन्म से ही परिचित था । पालने में से ही उसने सखी के दर्शन कर लिए थे । विरह की वर्षा से अपनी शैया को भिगो भिगो कर उसने हजारों रातें बिता दी थीं । लालों बार उसने अपनी आगुल और गंभीर निश्वासों से बातावरण कँपाया था और अपनी सखी के सूक्ष्म दर्शन तथा मूक भक्ति में मोद माना था ।

और अब वह आ गई थी, कल्पना सूधिं में जैसी थी उससे भी अधिक मोहक ।

संसार में प्रकाश करने वाली उसकी सखी न थी जल, न आकाश और न पवन, पर महानगर में उसकी प्रतीक्षा कर रही थी ।

और संपूर्ण सूधिं के मध्य में वही तिरछी लड़ी थी ।

संसार के बंधनों का उसने विचार करना आरंभ किया ।

वह अब ठीक हो गया था । पर विद्वता यह कैसी ? एक मात्र एक दूसरे को छलने के लिये पैदा हुए दोंगियों का इंद्रजाल ?

उसको प्रतिष्ठा मिली थी, पर प्रतिष्ठा कैसी ? एक दूसरे की खोभा बदाने के लिए स्थापित शिष्टाचार ?

हती थी, स्नेहमयी और शुद्ध । पर यह कौन ? पिता द्वारा खोजी

हुई, जाति द्वारा स्वीकार की हुई, कर्तव्यबल से मानी हुई शृंखणी और बालक की माता ।

बालक थे, प्रिय और भावार्थी, वे केवल उसकी ही भावना को समझते । और न समझते तो एक मात्र देहधर्म का फल ।

और लग्न विधि ?

प्रणथ विहान लग्न विधि यह तो एक मात्र संतान की प्रतिष्ठा स्वीकृत करने वाली समाज की सुद्रा; प्रणय की रक्षा करने वाला परिधान—जिसमें संसार के पुरुषों की अपने को छुलने के लिये प्रणय के बदले पशुवृत्ति भरी हुई थी ।

और कर्तव्यपरायणता ?

ओ.....ओ.....यह तो दया विहीन, और भयंकर पहरेदार, जिसने कृदम-कृदम पर उसे डंडे मार कर संसार की चक्री में पिसने के लिये बिठा दिया था । इसका अधिकार क्या ? और किस लिये स्वीकार किया जाय इसका प्राचल्य ? हजारों इसके पहरे में से मुक्त हो गये थे परन्तु न था कोई उनका पूछने वाला और न था कोई उनकी सुनने वाला ।

समाज जिसका निर्देश करे वही कर्तव्य और अंतःकरण वृत्ति जिसके लिये उत्सुक हो वह आकर्तव्य ?

सती और मंसार ये कर्तव्य के अधिकारी तो किस लिए सखी और वह आदर्श के अधिकारी नहीं ?

वह स्वयं कौन ? और क्या ? शरीर ? स्वभाव ? प्रतिष्ठा ? या पदवी की भूत ? या अच्छे कपड़े और भोजन ? या संसार के साथ जड़ी हुई समाधान शृंखला ?

वह स्वयं क्या ? हृदय, आकांक्षा या भावना या जीवित से भी सजीव ऐसी सखी का शाश्वत विरही ? प्राण से भी प्रिय ऐसे प्रणय-बिदु का चातक ।

क्या सतत दिखाई देने वाली इसकी अविभक्त और हिरण्य गर्भ आत्मा, ही एक मात्र असत् और वाकी सब सत् ?
वह मुक्त कंठ से रोया ।

वह प्रणय-विहीन एक नार आत्महत्या को भी तत्पर हुआ । क्या इस समय संसार इतना आकर्षक और प्रतिष्ठा इतनी थी यी कि उसकी रक्षा के लिए वह प्राणों का हनन कर शब रूप में ही सदा विचरण करे ?

क्या प्रणय की भावना अवकाश के द्वारों में उड़ी हुई एक लहर-मात्र थी जिसकी रोज कल्पना की जा सकती थी किंतु जब आये तो उसे भुलाना पड़े ?

उसकी आँखों के सामने भीरा आई : सुकुमार, रस चिह्न; लजीली और निराधार, कल्पना निवासी गिरधर जो की आराधिका; लोक लाज छाँड़कर चिन्तौद त्यागती हुई ।

और आया शेली—सुन्दर, आदर्शों का प्रेमी, काव्यमूर्ति; संसार के व्यंग वाणों से बाथल; कीर्ति, प्रतिष्ठा और स्वदेश छोड़ कर प्रणय की खोज करता हुआ ।

और अंत में उसकी आँखों के सामने आ खड़ा हुआ, रूद्धमत्तम प्रणय—भावना सदृश, तीखी तड़पन से तिलमिलाता हुआ—शुद्ध संस्कारी, तरोड़वल विद्यानिभि, संसार से जला हुआ चंडीशम;—प्रणय की धुन में, रामी की प्रणय पूजा में ब्रह्म साक्षात्कार समझता हुआ; नव द्वीप की गजी-गली की खाक छानता हुआ; गौव-गाँव भिन्नाभ बिना टक्करें खाता हुआ ।

उसे बाँधा गया हाथी से ; और ढंडे मारते हुए सैनिक उसका बहता हुआ रक्त देल कर हँसते ।

ओखें भीचकर, अंतिम रवासों में रामी का नाम रटता हुआ यह प्रणय तपोनिधि परलोक माग पर आग्रसर होता हुआ उसकी आँखों के सामने आया ।

उन्मत्त सा वह आवेश में खड़ा हो गया। उसकी आँखों में आग उठी।

चुपचाप उसने भीष्म संकल्प किया “सब कुछ असत् है, सत् है केवल एक—मेरी अविभक्त आत्मा की परम सिद्धि”

“भले ही ब्रह्मांड टुकड़े-टुकड़े हो जाय भले ही प्राण जायें या प्रतिष्ठा, भले ही तू हो जाये अविश्वसनीय, या कभी दे देवे मुझको दग्ध पर सखी री ! तू और मैं एक थे और एक रहेंगे !”

उसके हृदय में विश्वास ने जन्म लिया और वह चंडीदास का स्तोत्र गाता हुआ खड़ा हो गया :

तू धोयिन है मेरी रमणी
तू है पिता औ मात।
संध्या तेरी भजन तुम्हारा,
तू गायत्री वेद साक्षात् ।
तू वागीश्वरी तू जगदंवा,
तू इस गले का हार।
तू स्वर्ग, मृत्यु, पाताल पर्वत
तू नयनों का तार.....॥३

और उस समय जिसे कहते बहुत हैं पर समझता कोई-कोई ही नहीं, ऐसे प्रणय के अपूर्व स्वरूप का साक्षात्कार हुआ।

इसी दर्शन से प्रेरित होकर, कामदेव का दमन कर, ओधी वृक्ष छोड़ कर प्रणय-बुद्ध सदृश वह शिशु ‘पंखीवन’ से नीचे उतर आया।

६

प्रणय भावना की सिद्धि खोजता हुआ वह रात में सोता तो—पर अनिमेष नैत्रों से। वह जगता था या नहीं यह भी पता न लगता...

*गुजराती का हिन्दी रूपान्तर।

एक भव्य मंदिर के गर्भ द्वार में वह खड़ा था, स्फटिक की शारदा
मूर्ति की स्तुति करता हुआ एक वीणावाही कवि के रूप में।

मयूरासनी का सुख देदीप्यमान रसिकतासदृश सुन्दर और
भावनावाहो था।

देवी के पादाम्बुजों के पास जैसे संगमरमर की बलों हो ऐसी शुक्लां-
बर धारिणी उसकी सखी एक पुजारिन के रूप में आरती उतार रही थी।

कवि ने प्रणाम किया, “मगवी ! षष्ठन !” सखी हँसी, “षष्ठना
करते हो किसको ? माँ को या मुझे ?”

कवि भी हँसा, “मेरी समझ में नहीं आता कि इस मन्दिर में मैं
किसकी आराधना करता हूँ—देवी की, दरिता की या देवी रूप
दरिता की !”

पुजारिन फिर हँसी “महाकाव्य का आरम्भ कब कर रहे हो, कविराज ?”

नेत्रों के अमृत से भीगा हुआ उत्तर मिला, “जब मेरे स्वर्णों को
सिद्ध कर दोगी तभी !”

भयत्रस्त बाला माँ की मूर्ति देखती रही, “ऐपा मत कहो, यदि माँ
जी कोधित हो गईं तो जो है वह भी चज्जा जायगा !”

बाला फिर बोली, “माँ जी ने मुझे लिखाया है केवल एक ही
सुन्न—शुद्धि जिना सुन्न नहीं और तप जिना सिद्धि नहीं !”

कवि ने प्रश्न पूछा, “और हृष्य के रस भरने सुख रहे हैं उनका
क्या ?”

“मेरे कविराज”, पुजारिन बोली, “तृष्णि से कभी रसिकता तुष्ट
हुई है ? तपोमयता के रहस्य क्या तुम्हों भी सीखने पढ़ेंगे ?”

कवि ने कहा, शोध और उत्साह से, “सखी री ! गया हुआ जीवन
वापिस नहीं आता । चल, हमारा समय बीता जा रहा है । शारदा माँ
माग ! बतायेगी; इनको भी हमारी संयुक्त भक्ति की आकांक्षा है । चल,
हम बन जायें एक और अभेद्य ।”

पुजारिन पलभर के लिये शाँत रही ।

“एक और अभेद !” उसने मौन छोड़ा, “मेरे कवि ! ये शब्द हैं सरल, और हृदय के गांभीर्य में एक अद्भुत प्रतिष्ठनि प्रकट करने वाले ।”

कवि हँस पड़ा, “हृदय हृदय में जो प्रतिष्ठनि न हो वह प्रशंशन नहीं । समझो ! कष्टा एक से शील और स्वभाव वाले छोटी पुरुष भी अधिक मात्रा में पैदा नहीं करता ।”

वह उन्मत्त कवि उत्साह से पुजारिन का हाथ पकड़ कर चल दिया और स्टॉटिक की मूर्ति तनिक हँसी.....

सामने भिला राजा, पुजारिन के प्रेम का भिखारी । प्रियतमा को दूसरे के हाथ में गया हुआ देखकर उसने क्षोध मुद्रा से कटार निकाली और कवि को चीर डाला ।

कवि ने कहणालनक पुकार की, “पुजारिन ! मेरे प्राण !”

“मेरे कवि !” कह कर वह बाला उसके पास आ पड़ी ।

प्रियतम के इधिर की प्यासी कटार को अपने हृदय का रक्त पिला कर बाला ने सहगमन किया.....

और सरस्वती माँ के खेदशुक्त नयन दयामय बन गए और उसका संदेश गूँज उठा :

“बालको ! तप बिना सिद्धि नहीं”...

शिशु जागा, काँपते हुए तथा आकुल; और उसके कान में शब्द गूँज उठे—“तप बिना सिद्धि नहीं !”

शिशु ने शारदा का सूज स्थीकार किया । तप के साथ भावना की सिद्धि चाहता हुआ वह महानगर बापिस आ गया ।

उसकी दण्ड में प्रशंशन पंथ सरल और सीधा दिखाई दिया । उसका दर्शन सखी को करा कर एक वह अद्भुत आदर्श ग्रन्थि बाँधने के लिये उत्सुक हो गया ।

एक दिन वे श्राकेले बैठे थे । वह बात कर रही थी और हँस रही थी

गम्भीर शिशु सुन रहा था। “इतना गम्भीर किस लिये ? और ऐसा मौन तुम जैसे वाग्विशारद को कैसे शोभा दे सकता है ?

अवर्णनीय भावना-भार से दीन, मन ही मन धुट्ठा हुआ, सहमा हुआ वह बोला—

“मुझे एक स्वप्न आया। एक था मंदिर, युग-युगोंसे जीर्ण; पढ़े हुये थे उसके स्तंभ; दूटा हुआ था उसका शिवर और जीव-जन्म तथा पक्षी ही उसकी शरण खोजते थे। दूटा फूटा अवश्य था वह पर था, विशुद्ध और गौरवमय। एक संध्या को उसकी जोर्ण पैड़ियों पर गाँव-गाँव में धूमता हुआ एक यात्री आकर नैठा—भावुक और रसिक।”

जीर्ण मंदिर के बृद्ध अंतर में भावचक उठे। :—

“यात्री ! भाई जा। अपने रास्ते चला जा; अपने क्षणजीवी, मौजीले वृत्त्य से, मानव पाख्वनि से अभंग मेरी युग-युग की नीरवता को प्रत भेद। महँगे मोल में मिजने वाली मेरी शक्ति अभंग रहने दे। पुजारियों की प्रतीक्षा करते करते मैं थक गया। अब तो एक मात्र मैं विवर्ण की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।”

अधखुली आँखों और खेदमय स्वर से सखी बोली।

“यात्री ने क्या कहा वह सुनो—जीर्ण मंदिर ! क्षमा करना, अपनी शांति का यह भंग। अवनि पर अकेले और स्वजन-विहीन चलते-चलते मेरे अंग-अंग थक गए हैं। संसार से झुलसा हुआ मैं समस्त जगत में भटका, पर कहीं भी आश्रय नहीं मिला। मेरे ऊपर आकाश है और नीचे पृथक्षी। अपने श्रम का दूर करने के लिये और अभंग शांति की खोज में थका-हारा मैं तेरे द्वार पर आ गया हूँ। रहने दोगे तो मैं कृतज्ञ बन जाऊँगा; तेरी जीर्णता की शोभा बढ़ाऊँगा; एक भी विचार-तरंग से तेरे विशुद्ध गौरव को कहीं भी भ्रष्ट नहीं करूँगा क्या रहने दोगे ? या जैसे इस निर्दय जगत ने अपनी सीमा से निकाल बाहर किया इसी प्रकार निकाल बाहर कर दोगे।”

वह रुकी; पर उसके भय व्याकुल नयनों में शिकारी से डर कर भागती हुई हरिणी का सा कँपन था।

शिशु की जन्म जन्मांतरों की तृष्णा विलीन हो रही थी। उसके स्वर में आत्मश्रद्धा की घनि थी।

“आगे मंदिर ने क्या कहा यह बताओ इन अनेक युगों में मैं तेरे लिये ही रुका रहा हूँ, यात्री। आ, शांति पा। मुझे विशुद्ध रख और विशुद्ध हो।”

गम्भीर स्वर में वह बोली :

“क्या स्वप्न पूरे करूँ ? यात्री ने वह स्वीकार कर लिया और वह वही रहा। विशुद्ध का सेवन करते हुये दोनों ने शान्ति की समाधि साधी।”

और गर्व से शिशु ने कहा—

“समय व्यतीत होता गया। फिर दैव कोषित हुआ तो उस यात्री तथा मंदिर दोनों का साथ-साथ विनाश हो गया।”

स्वप्न कथा समाप्त हुई; उस समय दोनों ने एक दूसरे के हृदय सरोबर में आपने ही दर्शन किये।

शिशु कुछ-कुछ समझा।

जैसे कीचड़ में कमलिनी उगे इस प्रकार उसके संसार में अकेली वह खड़ी थी; अपने रंग से मनोहर तथा अपनी मृदुता से भी सुकुमार।

जिस प्रकार पृथ्वी पर पड़ा हुआ धायल पक्षी, अकेला और स्नेह हीन, ऐसा न हो कि स्वयं अकेला रह जाय इस भय से हाथ फेरते हुए आद्रहंशी पथिक से भीगे नेत्रों से बिनती करे इस प्रकार उसकी आत्मा इस समय शिशु से बिनती करने लगी, “मुझे लेजा, रक्षा कर, और पाल”

वे रोज मिलते।

जैसे जौहरी नव प्राप्त रत्नों के प्रदर्शन से गर्व से पागल हो जाता

है वैसे ही अपने विचारों और भाव की समृद्धि एक दूसरे को दिखाकर वे प्रसन्न रहने लगे ।

मित्र और शत्रु ; काव्य और नाटक ; धर्म, संसार और स्वदेश ; जीवन भर के अनुभव, आशा और आदर्श । इन सबका उन्होंने विनिमय आरम्भ कर दिया ।

जो जन्म से ही बन्द थे वे हृदय के द्वार खुल गये ; और उनमें बन्द सृष्टि, दोनों में रहने वाली एक ही संवादी आत्मा का दर्शन कर नव पल्लवित हो लहलहा उठी ।

शिशु के महाकाव्यों में एक नवीन उत्साह आ गया, और सखी उन सचकी इंद्रधनुषी सतरंगी नायिका बनी । जो शारदा की आराधना में आज तक धन, शक्ति और कल्पना की बलि देता हुआ अकेला बैठा था, उसमें शक्ति कल्पना और सरसला की बलि देने के लिये सारस्वत—सहधर्म-चारिणी बन कर वह भी साथ में बैठी ।

उन्होंने महामुनि पाराशर की प्रेरणा खोजी और उस महागुरु के प्रसाद से उन्होंने अनेकों को पहचाना ।

आर्यावर्त का नक्वती पद चाहने वाले मोहभरे और महत्वाकांक्षी मगधाधिप जरासंघ को ;

आन्याय को चूर-चूर करने वाले आविचारी माता द्वारा रचे हुए क्रूर संयोगों का आवरण भेदने वाले दानेश्वरी परदयाजनक कर्ण को ;

बीरों में भी बीर, एकाकी, अलग और अस्पर्श्य अङ्गिर प्रतिशा से भव्य पितामह गणेश को ;

पराजितों की सदायता के लिये सदा ही तत्पर रहने वाले, भोले और भले उत्साह-मूर्ति महान् योद्धा भीम को ;

उत्साह और कर्तव्य के बीच झूलते हुए, गांडीजीधारी पार्थ को ;

विजयी पौरुष से जाज्वल्यमान, श्रार्य-संस्कार की प्रतिमा सहश, देवपद के अधिकारी गोपी-जन-बल्लभ केशत को ;

और बोरों को भी हिला देने वाली बीरागना, महामाया सद्श
तेजस्वी और मदमाती कृष्णा को ;

इन सबको उन्होंने देखा ।

और दोनों ने आकाश को उल्लासने के लिये उत्तम, मूल्युका निरस्कार
कर देने वाली, आदर्श सेवी और दुर्धर्ष मानवता के नये पाठ सीखे ।

शिशु भौराष्ट्र गया । बड़ा भाई मिला । उसने उसे चेतावनी दी,
“खी एक मात्र जाल है बंधन है ।”

फिर सखी के भक्त एक अन्य महाकवि से मिला । सुन्दर सरोवर के
किनारे दोनों बैठे और दोनों भक्तों ने सखी के स्नोत गाये ; पत्नी वियुक्त
कवि ने अश्रु पूर्ण नयनों से अपनी विरह गीता सुनाई; और सरोवर की
नाचती हुई जल तरगों में रक्तमयी संध्या की छाया में दोनों ने अपनी
रस-तरंग मिला दी ।

शिशु वहाँ से जीण नार की यात्रा को गया । नरमिह के चबूतरे
पर उसने भक्त कवि के संस्मरण याद किये । ऊरो कोट के अभेद कंगूरों
की छाया में खंगार राणक के कीर्ति गान गाये । मौर्य, क्षत्रिय और गुप्त
तीनों की संयुक्त राजमुद्रा के समान शिला-लेख को प्रणाम कर वह
पर्वत पर चढ़ गया ।

पथ प्रदर्शक ने वहाँ ऊपर अधर लटकता हुआ एक महा पाषाण
दिखाया । उसने कहा,—“इस चट्टान पर चढ़ने की हिम्मत किसी की
नहीं । एक ही सुन्दरी, हरिणी की तरह चंचल और सिंहनी की तरह
निर्भय शीघ्रता से वहाँ जाती हुई मैंने देखी है ।”

उसका नाम शिशु ने सुना और गर्व से उसका हृदय फूल उठा
और सखी के पादस्नर्श से पुनीत ऐसे पाषाणधर के शीश नवा कर
दर्शन किये ।

वहाँ से निकल कर, प्रभास के पुण्यधाम में अरुणोदय के रम्य
मुहूर्त में, सागर के उर्मि-गान में उसने सखी का नाम सुना ।

ज्वलंत गुर्जर देश के अधिष्ठाता, 'सिद्धराज द्वार पूजित सोमनाथ का भग्न पर भव्य मंदिर, भूत महत्ता का स्मरण दिलाता वह गर्व पूर्वक देख रहा था ।

वहाँ से उमने देवाधिदेव बासुरैव को स्मरणांजलि दी, देहोत्सर्ग की पतित-पावनी रज आगे माथे पर चढ़ायी, और कीर्तिस्तम्भ रहित उस अविरल स्थल को देख कर संसार की कृष्णता पर निश्वास छोड़े ।

वहाँ से वह मुड़ा और भूतों के समृद्धि में आकस्मात् आई हुई, विशुद्धि की प्रतिमा सदृश सखी से मिला ॥ ४ ॥

संध्या का शीतल पवन वह रहा था । नगर के बाहर की सरिता को पार कर खेतों की पगड़ियों खोजते हुए वे दोनों चले ।

शिशु ने पूछा: "आज मेरी जन्म तिथि है इसे पुनर्जन्म की तिथि बना दूं तो कैसा !"

सखी ने सिर झुकाकर 'हाँ' कहा ।

शिशु ने स्पष्ट कर दिया, "बेसमझी थी मायापञ्ची करने से समझदारी का संबंध अच्छा । हम किस प्रवाह में बहे जा रहे हैं । और दिशा भी कौन सी है ? खोल दूं अपना हृदय ? बुरा मान जाओगी ?"

सखी हँसी, "हृदय खोलने के लिये न होते तो विधाता हमें मिलाता ही क्यों ?"

शिशु ने आत्म कथा शुरू की: "मेरा जीवन जन्म भर से दो तरह का था एक में विश्व जागता था पर मैं सोता था एक जड़ सदृश । दूसरे में मैं जागता पर विश्व सुनें न देख पाता । और इस जीवन में मेरे स्वप्नों की सहचरी शैशव से ही मेरी आँख की पुतली बनी हुई थी ।

"दो वर्ष का होने पर सखी । मैंने तुम्हें देखा और दोनों विश्व एक हो गये; यह सहचरी देह धारण कर चेतन जगत में किरणे लगी । त्याग के आर्डर में, इन एक जगह मिले हुए विश्वों को अलग करने का मैंने बहुत ही प्रयास किया । मैंने हृदय के साथ युद्ध ठान लिया, रात और

दिन……रात और दिन, और सखी !……‘मेरी हार हुई !’
उसके हृदय में एक अस्यष्ट भय की उद्भावना हुई और शांत हो गई।
“और अब……भी……सखी तेरे चिना जीवन में सार दिखाई
नहीं देता ।”

मीठे विशाल चन्द्रमा पर सखी ने रस भीनी आँखें ठहरा दीं।”

“पाषाणी शारदा क्या अब अपनी आत्म-कथा आरंभ करे ? मैं
धनाद्यों की कन्या महानगर के महालयों में लाड प्यार से पाली जाती
हुई बड़ी हुई । छोटी यी तभी छोटे से हौज में पैर लटका कर बैठती
और पानी के जादू भरे दर्पण में अपने राजकुमार को निरखती……
अपने राजकुमार की मैंने बहुत ही प्रतीक्षा की पर वह नहीं आया,
नहीं आया ।

‘फिर मैं बड़ी हुई और माँ बाप ने मेरी नीलामी की । इस्तंबोल के
बाज़ार की बाँदी की तरह धन प्रतिष्ठा के लिये मेरा भी विक्रय हुआ ।

“उस दिन से हृदय का शास्य जाता रहा, मैं अकेली और निराधार
बहुत रोशी और तड़पी पर कुछ न बना, सारी दुनिया दुश्मन बन गई,
शिशु ! और पंद्रह वर्ष की बालिका की कोई बाँह पकड़ने वाला
नहीं रहा ।

“फिर मुझे एकाकी ही स्वातंत्र्य साधना की धुन चढ़ी । पराधीनता
में ही ये दुर्भेद्य दुर्ग खड़े किये । अकेली ही मैं पढ़ी, मिज मिले और
वर्षों हो गये कि अकेली उदासीन सन्यासिनी की तरह घर में रह रही हूँ ।
अकेली मैं खाती हूँ पीती हूँ और अकेली ही यात्रा करती हूँ ।

“शिशु ! तूने उस दिन मुझे पापाणी कहा था, मैं पाषाणी न बनूँ
तो जाऊँ कहाँ ? पर यह कठोर हृदय भी हार गया और राजकुमार की
प्रतीक्षा करते करते मैं निराश हो गई । जब तुझे देखा, शिशु ! तभी मैंने
पहचान लिया अपने हृदय के राजकुमार को……और विलीन हास्य
फिर लौट आया ।”

श्रनिवास्य ममता से वह शिशु के सामने देखती रही, 'हिलती हुई पृथ्वी रुक गई और इन दो हृदयों की संवादी तान सुनने लगी।

शिशु ने कठिनता से उच्चारण किया सखी ! यह धन्य पल देखने के लिये जीवित रहे यही हमारा सद्भाव ! देव को भी प्रणय दुर्लभ है, चलो इसका साक्षात्कार करें। है इतना मूल्य !

सखी ने संशय प्रदर्शित किया : "शिशु ! प्रणय साक्षात्कार करने में कितनों के प्राण चले गये हैं और हमारे भी चले जाएंगे। प्रणय का जप जपने वाले तो घर घर हैं पर प्रणय की खोज के करने के लिये सब मिट्ठी के माधू ही हैं। प्रणय, यह तो एक मोहक स्वप्न है। जी पुरुष तो मैंने बहुत से देखे पर प्रणय के दर्शन नहीं किये।"

शिशु ने सिर हिला दिया — "दर्शन काँ से हों कोई तो कन्या को लाता है घर की शोभा के लिये और कोई प्रतिष्ठा की पूर्णि करने के लिये; कोई होता है नरक से पितरों को तारने का रसिया तो कोई होता है साथ लेकर फिरने वाली गुड़िया का शौकीन; और किसी को जी चाहिये नौकरी करने के लिये या रोग में सेवा करने के लिये, माँ बाप को संतुष्ट करने के लिये या प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये। कितने ही तो यह भी समझते हैं कि जहाँ मोह या पल भर की तृप्ति वहाँ प्रणय !"

"ऐसे प्रणय को कलंकित करने वाले तो घर घर मिल सकते हैं।"

सखी ने पूछा, "प्रणय जी को कहाँ से मिल सकता है ? वह तो गोदान की गाय की तरह भट्ठ दे दी जाती है। कुलरीति की रक्षा करने के लिये या पालन पोषण का लचाँ बचाने के लिये कितनी ही कोमल कलियों को माँ बाप जीवित बेच देते हैं ?"

"एक पक्ष की भक्ति में लीन, निराधार और पराधीन दासी प्रणय का नाम कहाँ से जानने लगी ?"

शिशु ने जवाब दिया, "ऐसे ग्रामी प्रणय को समझते नहीं और न

किसी दिन समझेंगे ही। प्रणय यह तो जी पुरुष की पारस्परिक तन्मयता है।”

सखी ने कोकिल कंठी स्वर में कहा : “यह तन्मयता अधिकतर लोगों को शरीर के आकर्षण में ही दिखाई देती है।”

“‘सखी’”, शिगु ने कहा, “यदि रक्खों शरीर का आकर्षण-रहित प्रणय तो इस प्रकार असंभव है जिस प्रकार शशक के सींग—कल्पना की जा सकती है पर देखे नहीं जाते। जिसका शरीर न अच्छा लगे उसकी आत्मा भला कहीं अच्छी लगती होगी। पर जो संबंध त्वचा की चमक दमक से शुरू होता है और वहीं तक सीमित रहकर समाप्त भी हो जाता है उसको तो पशु भी नहीं सँभते।”

“पर शिगु ! पशु-वृत्ति और भावना के संबंध को प्रणय कैसे कहा जा सकता है ? यदि यह कहा जा सकता तो स्वामी और दासी के सम्बन्ध में भी प्रणय के इर्षन हो सकते। यदि सहानुभव में भी प्रणय का अस्तित्व है तो फिर भाई वहिन को भी प्रणयी कहना चाहिए”

“सखी री !” शिगु ने कहा, “सारंजस्य प्रणय का शरीर है यह माना; पर इसकी आत्मा है निराली। सच कहूँ ? बुद्धि के एक मात्र सहचार में अर्वाचीन भले ही प्रणय की खोज करें पर यह बात यदि वास्तव में हो तो फिर सहाध्यायी भी प्रणयी कहे जाने चाहिये। दो बुद्धियों के संबंध में प्रणय समाप्त हो जाय तो प्रणय कैसा नीरस तथा अर्थ-हीन ?”

“पर जहाँ बुद्धि का सहचार नहीं वहाँ प्रणय भी शीघ्र ही बासी हो जाता है।”

पह भर के लिये शिगु रुका और धीरे से अपने अन्तस्तल से शब्द निकाले —

“जैसे कर्म, ज्ञान और भक्ति का योग है वैसा ही सखी री ! प्रणय का

योग भी है। स्वरूप छोड़कर पर-स्वरूप बनना, “भव” नहीं पर “भावना” में व्यस्त रहने में ही, सखी ! सद्वात्कार का रहस्य है ।”

“मैं और तू ये भिन्न और हमारे भिन्न ये व्यक्तित्व—यह भिन्नता भूल कर, दोनों ज्वाला गगन में भिलकर एक दो जाएँ इस उद्देश से हमने एकात्मा का पंथ स्वीकार कर लिया और प्रणय की उमि उठी ।”

“जैसे कोई मुनिवर प्रत्येक पिड में परमात्मा के दर्शन करे इसी प्रकार दोनों में हमने एकात्मा के दर्शन किये और प्रणय की प्रतीति हो गई ।

“सुख और दुःख में, जीवन और मरण में, एकात्मा के दर्शन के लिये अडिंग और कठिन ब्रत करना ही प्रणय साधना है। और अपने निराले स्वरूपों को भुला कर जब दो देह, दो हृदय और दो संवादी जीवन एक ही आत्मा से प्रेरित होकर एक ही चेतना से विकसित दिनाई देंगे सखी री ! तभी प्रणय-समाविष्ट प्रकट होगी; हमारी भावना की परम सिद्धि ।”

शिशु मौन रहा ।

और उनकी एक और अविभक्त आत्मा, चन्द्रिकामय और उल्लास रूपी विश्व में व्याप्त हो गई ।

सखी ने उसकी ओर देखा ।

“जहाँ तू वहाँ मैं । मैंने भी परख ली है अपनी आत्मा; मैं तेरे साथ यह आत्मनिधि साधने के लिये तैयार हूँ, मेरे राजकुमार !”

शिशु ने उत्तर दिया—

“हमारे संसार की सीमाएँ अलग अलग हैं और हमारा सहवास भी अशक्य है। पर सखी ! मुझे सिखाया है अधिष्ठात्री देवी शतदल बासिनी ने कि शुद्धि बिना सुख नहीं और तभ मिना चिद्धि नहीं ।

“मैं जा रहा हूँ सती के पास। असत्य का कभी उदार नहीं होता ।

सखी ! मैं सुनाऊँगा उसे अपने अंतर की आत्मकथा । पार्वती का गौरव अखंडित रखकर तुम्हें जटा में रखकर तेरी आराधना करूँगा ।”

“सखी वे दो तरे देख रही हो । उनकी तरह हम स्थिर और परस्परावलंबी पर सदा ही दूर के दूर, एक नक्षत्र के दो अंग, सरस्वती पूजा के व्योम में विहरेंगे; और नक्षत्रों को भी दुर्लभ दिव्य गान में दिल के दर्द का समावेश कर संसार को मन्त्र मुग्ध कर देंगे ।”

“शिशु ! जा सती से कहना कि मेरा मुझे मिल जाने से वह दण्ड नहीं होगी । मुझे नक्षी चाहिये उसको, रुदि विवश हो कर दिया हुआ तेरा शरीर, और न मुझे तोड़ना है सेवावल से जीता हुआ उसका, स्नेह, न मुझे छूना है तुम्हि बल से प्राप्त किया हुआ तेरा धन, और न मुझे बैधनी है तपोवल से प्राप्त तेरी शांति ।”

“मैं चोर नहीं ; जो सतीं का है वह मुझे सदा ही त्याज्य है ; पर मैं अँचल फैलाकर उससे एक ही भीख माँगती हूँ जो उसने कभी न देखी हो, न जानी हो न माँगी हो और न मिली हो वह : एकात्मा का दशन, एक भावना की सिद्धि और शारदा के पादाम्बुजों में बैठकर साथ-साथ बंले जाने वाले एक ही गान की ध्वनि ।”

ज्योत्स्ना स्नात, खेत की पगड़ी पर गर्व से बदन कमल ऊँचा कर, नयनों में से निखरते हुये प्रणश्ट तेज के साथ, प्रकृति को नव पल्लवित करती हुई वह खड़ी हुई ।

उसके गुख पर सरस्वती की शुद्धि विराजमान थी । सुन्दर गाल की सुवर्ण मय चमक में, गुलाब की कलियों के मोहक रंग का बैमव मिला हुआ था । नासिका की रेखा भव्य दिलाई देखती । आधे बन्द ओढ़ों के बीच स्पष्ट शशि लेखा दिखाई देती । और पलकों के काली घन छाया के बीच नयनों की बिजली चमकती ।

जैसे जगतेरियी महामाया की ज्योत्स्ना निर्भैत प्रतिमा के पादारबिंदि का स्पर्श करने के लिये कोई दीन भक्त तरसे इस प्रकार वे तरसते रहे । पर

“तप चिना सिद्धि नहीं” इस सूत्र का समरण करता हुआ, संयम गर्वी वह शिशु एक मात्र नयनों से अर्थ्य देता रहा ।

‘७

शांत और स्थिर दिखाई देने वाला राजहंस भौदर्य से गर्दन मरोड़ कर, जैसे गौरव भरी सरसता से मानसरोवर का नीर चीर कर बढ़ा चले वैसे ही एक महानौका, शुभ और सुन्दर, महानगर का बन्दरगाह छोड़ रही थी । जैसे निश्चल रूप से खड़ी रहकर समुद्र के जल को नीचे से न जाने दे रही हो ! भव्य महालय चल चित्रों की भाँति धीमे-धीमे आहट होने लगे ।

ताढ़ के बृह्म समूह में सुन्दर और छोटे आश्रम के सदृश दिखाई देने वाला महानगर पल पल में दूर होता जा रहा था ।

सुन्दर खेतों की सुगन्धित पगड़ंडी के उस छोर पर, दूर पर प्रतिदिन दिखाई देने वाले बनफलों को खाने की ओर बहते हुए निभर में जल-कीड़ा करने की निरंकुश इच्छा से, तूफानी बालक जैसे घर से बाहर सटक जाते हैं इस प्रकार, वह पश्चिम के धैमव दशन का लोभी आचार शूखला से अकुला कर महानगर को छोड़ रहा था ।

उस उल्लास-यात्रा के बात्री थे तीन सती, सखी और शिशु ।

समुद्र में उत्ताल तरंगे उठ रही थीं, और ऊपर पूर्णमा का, पूरा और विशाल चौंद उगा हुआ था । किसी महागुरु के मंत्र से हृदय में हृदय नाच उठे इस प्रकार उस चाँद का प्रतिनिव्र प्रत्येक लाहर में नाच रहा था । निःसीम व्योम भिज-मिलाते हुए अल्पिर जल में अपने बिले हुए तारक गयों का सौंदर्य निहार रहा था ।

—६५—

इस रमणीयता में, अकेली और निडर नौका, समुद्र को चीर कर जल फेन का पल्ला पीछे खींचती हुई, भपाटे से चली जा रही थी— जैसे एक अधीरी अभिसारिका !

हँसते बोलते, खाते पीते और गाते हुए एक मात्र ताप की भयंकरता को भुलाकर वं नौजन्जीवन का आनन्द लूटने लगे। जीवन पर उत्तर-दायित्व का अंकुश नहीं था। और समय पर नहीं था, कर्तव्य का शासन दिन बन गया एक निरंतर उल्लासपूर्ण हास्य, और रात बन गयी एक आनन्दमय स्वप्न ।

श्रद्धन के महस्तली मार्ग में ऊँटों का काफला उन्होंने देखा ; और विचित्र जलाशय परम्परा के पानी दिये ; और अरेबियन-नाइट्स की कथा सृष्टि का साक्षात् अनुभव दिया ।

रात के समुद्र की ऊमा से जलते भुनते हुए उन्होंने सागर-पुलिन की उड़ती हुई बालुका में भूगमरीचिका के द्वीप देखे। और एक निर्मल और सुन्दर हंद्रधनुष की दिव्य तथा आकर्षक छुत्रि निहारी ।

विधाता द्वारा निर्मित पृथ्वी का खंडन कर, समुद्र को समद्र से मिला देने वाली स्वेज नहर के नवीन विश्वकर्मा की प्रचंड मूर्ति के, पोर्ट सर्हेद के विशाल, सागर तट पर, दर्शन किये ।

भूमध्य सागर में शीतल समीर से कौपते हुए, स्वप्नों के श्वेत द्वीप सहश, कीट द्वीप को देखा और सौंदर्य को कला तथा साहित्य की अपूर्वता में मैंढ़ देने वाले सौंदर्य के परम धाम ग्रीस के दर्शन किये ।

निशीथ के समय बैंडली के पाषाणमय तट पर, रिमझिम बरसते हुए मेंब्रों से सत्कार पा इन्होंने यूरोप की, बहुत दिनों से कल्पित भूमि पर पैर रखा ।

गंदी और धीमी चलने वाली रेलगाड़ी में उन्होंने अपनी विचित्र वैशम्पाय से आकर्ति इटली के विस्मय प्रेरित नर-नारियों को एकत्रित कर लिया ; सरंता के साथ-साथ चलने वाली गाड़ी में से समुद्र के

दर्शन किये ; और ऊपर, नीचे, गिरिशृंग पर गहड़ सहशा, खड़े हुए पाषाणी मठों की, निर्जनता के दर्शन किये ।

हीज़ औसी निर्मल खाड़ी के, असाधारण नीले, निर्मल जल में दिखाई देने वाले दिग्पाल सहशा, विसुवियस की धूमध्वजा से सुशोभित उल्लास के केंद्र सहशा, नैपल्म के पथरीले किनारे पर उन्होंने प्रभातियाँ गायीं । वहाँ ग्रीक शिल्पियों के अमर पाषाण सौंदर्य को पूजा वी और रोम के स्त्राटों की मुख रेखावलियों के रहस्यों की समालोचना की । किर वहाँ जगविल्यात रंगभूमि पर आत्मा के आकांद सा एक संगीत सुना, आर महाकवि वर्जिल की प्राचीन समाधि पर स्मरण पुष्प वस्तेरे ।

याथा में, भग्नभीतों के अवशेषों द्वारा शताब्दियों पूर्व के रोमन जगथाथों के महालयों की कल्पना के साथ एक नवीन सृष्टि का सृजन किया, और पल भर गन्धक उगलते हुए, गन्ध फैलाते हुए जल से भी चंचल स्थल पर, धड़कते हुए हृदय से खड़े रहे ।

पर्वत पर चट्ठकर, शंकर की सूनी पढ़ी हुई धूनी सहशा विसुवियस का गरजते हुआ ज्वालामुखी देखा ?—विशाल, गम्भीर और गोल । पाताल के इस मुख में, गन्धाते बहते हुए लाले की खदबद से और उसकी अकुला देने वाली गन्ध से उन्हें नरक का एक स्पष्ट सा अनुभव हुआ ।

नीचे उतरते हुए, अस्ताचल पर अवलंबित सूर्य को, खाड़ी के सौंदर्य भरे कठोरे में तेज की तिरमिराती हुई उर्ध्वरेखा के रूप में दर्शन किये ।

और दो हजार वर्फ़ पहले जैसा था वैसा ही पोपिश्चाई-चकित इष्टि से देखा । पल भर में फैलती हुई बहिं सरिता की गर्म निनगारियों से, आगते हुए, तड़पते हुए, जलते हुए लावादग्ध नगर वासियों की कहण चीत्कारों की ध्वनि उन्हें सुनाई दी ।

युगों से जगत्-केन्द्र बनकर समस्त जगत को व्यवस्थित सत्ता के सूक्ष्म

सिखाने वाले तथा सप्तशृंग पर विराजमान रोक में वे गये। भव्य स्तंभावनियों में होकर महामंदिरों में श्रेष्ठ पीटर के देवालय के अद्भुत सौंदर्य तथा गरजनी हुई भव्यता की उन्होंने दीन हृदय से पूजा की; और उसके गुम्बज की चोटी के गर्भ में स्वर्ग की सी सूक्ष्म सीढ़ियों पर चढ़कर, साहस-पिपासु वे थक कर बैठ गये और हास्य कलोल की ध्वनि गरज उठी।

रोम के प्रचंड और प्राचीन मंदिरों के व्योम विडंबित गुम्बज; नभो मंडल को थामे हुए, शक्ति की प्रतिमा सदृश ऊँचे और अद्भुत स्तंभ; पैथियोंन की सरस भव्यता; जिसमें जगत् के विजेता रोम के पुरुष और सिंह के द्वन्द्व युद्धों से बही हुई रुधिर सरिता देखकर प्रसन्न होते हुए, कोलिजियन की कल्पना को भी कुण्ठित कर देने वाली वैभवसूचक विशालता—ये सब उन्होंने उत्कट जिज्ञासा से देखे।

पाधाण में से खुदी हुई नर मूर्तियों की नगरियों से भी प्रतापी और देवों से भी तेजस्वी अपूर्वता विधिसर्जित विश्व से भी मोहमय स्वभिल जगत् की जीवित सरसता, उन्होंने वेटीकन में देखी और उनके निर्माता कला स्वामियों को स्मरणांजलि दी।

हजारों वर्ग के अन्याय पूर्ण शासनों का जहाँ से सूत्रगत होता था और जहाँ से उनका प्रसार होता था ऐसी विजय श्री के स्वधाम सदृश फोरम के दर्शन किये।

जहाँ जगत् का स्वामी सीज़र, मित्रों के रक्त पिपासु खंजरों से पराजित हुआ था वहाँ वे खड़े हुए। जहाँ से उसके पुनर सदृश एन्टनी ने प्रजा से वै का बढ़ला लिया था वह स्थान देखा। मदाविजेताओं की कीर्तिकमानों के नीचे और विलासप्रिय समाझों के क्रीड़ा भवन की रुज पर वे धूमे किरे। और जिसका पर्यागन कर रोम ने तीनों खड़ को सत्ता की शृंखला से बँध दिया था उन बीरों की बीर माता की प्रतिमा से रोमनों को नगर भक्ति और अपराजित अङ्गिगता के रहस्य पूछे।

माधुर्य की मूर्ति सदृशा एक लावण्यमयी का रसगीत, जैसे कोयल की काकली का एक असाध्य आदर्श हो इस प्रकार उन्होंने सुना; और अपनी आत्माओं के सूदम तारों को दिव्यगान के गुन्जन से झंकृत होते हुए अनुभव किया।

और भव्य महालय में अद्भुत रंग वाले पार्श्वकों से परिवृत्त, वैभव से फिलमिलाते हुए खंड में, देश देश के भक्तों की पंक्ति में, किञ्चित्तनों के जगत्गुरु की मुद्रा का चुम्बन किया।

जहाँ बीए-ट्रीज के चिरस्मणीय दौंते ने हृदय विदारक महाकाव्य रचा, जहाँ कवि दंपति ब्राङ्गनिंग पैदा हुआ और मरा, जहाँ समालोचकों ने सौंदर्येगान-विहूल कीटू को असमय में ही मरण-वेदि पर चढ़ा दिया, जहाँ निराशा और स्वातंत्र्य के बीच भूलता हुआ शब्दवज्र गिराता हुआ बायरन बसा, जहाँ प्रणय की बौसुरी लेकर शैली अपने हृदय के छद्म से जगत को रुकाकर मृत्यु को प्राप्त हुए उस फलोरेस में वे घूमे।

प्रभु और प्रभु के प्रतिस्थधीं कला-सामियों द्वारा स्थल स्थल पर सौंदर्य बखेर कर निर्मित किये हुए इस प्रणय धाम में उन्होंने इतिहास प्रसिद्ध प्रेमियों को याद किया।

सागर में रहने वाली जलदेवी सदृश वेनिस नगरी की स्वन्म में ही सुलभ होने वाली अपार्थित रमणीयता से वे मुग्ध बन गये। निशीथ में ज्योत्स्ना विहूल जलमार्गों पर वे गोडोला में घूमे, और युगल स्नान के लिये बनाये हुए विलास तीर्थ लीडो की रविकिरण द्वारा और भी आ-हादक अनी हुई बालुका में वे दौड़े।

घटा की छाया से गम्भीर, ऊँचे महाषृङ्खों से फैले हुये स्पष्ट अंधकार के साथ पूज्य भाव प्रगट करने वाला गहन बन जैसे किसी जादूगर की मोहनी से पाषाण रूप में खड़ा हो, ऐसे मिलान नगर के भव्य मंदिर में उन्होंने हृदय शुद्धि की; और उसकी छृत पर बैठे बैठे गमनचुंची पत्थर

के वृक्ष-शिखरों की छाया में प्रार्थना की। उच्चगामिता के उन्होंने दर्शन किये।

कोमो के रमणीय सरोवर की मोहिनी में वे इटली का कला सौंदर्य भूल गये। एक हताश रानी के पुराने महल की छत पर और चढ़ती उत्तरती सीढ़ियों से सुशोभित कुमुम वनों में उन्होंने विहार किया। और अपनी उम्र के अनुसार गम्भीरता को भला कर वे हँसे, दौड़े और गिरे, तब हँसना या रोना इसका कुछ भी निश्चय वे न कर सके और हँसते ही रहे।

घबलागिरि की मेखला से सुशोभित अमरापुरी के से अन्दुत, उल्लास के रस कुँज सदृश ल्युसन्न में वे घूमे। स्फटिक के दर्पण सदृश स्थिर और उद्यान के सरोवर सदृश सुरम्य उस जलाशय शिरोमणि का जल, शीत्रगामिनी नांका में पढ़े पढ़े, उन्होंने अपने हाथ से हिलाया।

और एक बार यंत्र-नौका टकराई तब उनके प्राण ओठों पर आ गा, पर ल्युसन्न के स्मरणों का वर्णन ही न हो पाये यह बात न थी।

जहाँ दो सरोवर मिलते हैं वहाँ वे आये।

हिमगिरि की मेखला से मैंदा हुआ इंटरलॉकन उन्हें अमरावती से भी अपूर्व लगा। रुई की पूनियों के रूप में वर्क गिरता पाताल मेदी महाज्ञाने गहरों में गरजती। यह सब उन्होंने देखा, और ग्रीन्डल बॉल्ड पर पढ़े हुये वर्क के टीले पर भी वे दौड़े।

हर्ड-कूल्म रथ्य शृंगों का शिरोमणि है वहाँ एक दिन शिशु और सखी गये। जैसे हिमगिरि के हरिण हीं इस प्रकार कभी-कभी वे हाथ और पैरों से ऊपर चढ़े।

गगन चुंबी शिखरों की धबल भव्यता निरखते हुये, चारों ओर चरसते हुये हँस पुच्छ सदृश हिम के चंचल सौंदर्य के साथ, उतावले आरोहण से फिलमिलाते हुये रगों का संवाद साधते हुये, एक भावना के दो उद्गम, एक प्रकृति के दो बालक, शिव और शक्ति सदृश, हँसते

झुये नेत्रों से और उछलते हुये हृदय से, वे शिखर पर जा खड़े हुए।

शिशु ने सुख-निश्वास छोड़ा, “सखी ! तू न होती तो यह साहचर्य न मिलता ।”

“ओर तुम न होते तो ?” सखी ने पूछा और शिशु न कहा, “जल प्रलय हो जाये और इस प्रकार आकेले रह जायें तो ?”

दोनों ने आँखें मींची और इस प्रलय के दर्शन किये। एक उछलती हुई भावतरंग में फिसल कर पूज्य भाव की निशा में वे न्वड़े रहे और हिमपुष्प बखरते रहे।

“शिशु ! जगत को देखने के लिये स्थीकृत संयम नहीं है। आत्मा का संयम आत्मा के लिये ही है जैसे एकात् वन में सिंहों का संयम और एकाकी गिरिशृंग पर गरुड़ों का संयम; स्थल काल की मर्यादा रहित महाब्रत आत्मनियोजित और अभंग ।”

और जिस प्रकार गरुड़—युगल, स्वस्थ और मंथमी, साथ-साथ और धीमे-धीमे पृथ्वी तल पर उतर आवे इस प्रकार वे उत्तर आये।

वहाँ से एक दिन नबेरे युगों के स्वातन्त्र्य और शौर्य, शिष्ठाचार तथा सौंदर्य के स्मरण चिन्ह सहश विश्व के रसधाम पैरिस में आये; और जगत को विनय लिखाने वाले पुरुषों तथा सौंदर्य शिल्प देने वाली नारियों द्वारा रचे हुये कितने ही राग, रंग और विलास देखे। नर्तन गृहों में अधनंग्र मानव समूहों को तालबद्ध संचालन में रस समाधि का अनुभव करते हुए देखा। और पेट के लिये लज्जा छोड़ कर नग सुंदरियों के माँस चर्म के प्रदर्शन में, लोक समूह का लिप्सापूर्ण आनंद देख कर रोमांच हो आया।

जगत की शृंखला जिसमें बंधी है ऐसी बास्तील की पवित्र रज माये पर चढ़ाकर वे पवित्र हुए; वैरसाइ के वैनव भरे उद्यान में लुई-विलियर के प्रेम कल्लोंल की प्रतिष्ठनि सुनाई दी। उसके चमकते हुए दर्पण यह में प्रस्थापित, भोले भाले विल्सन के, चतुर्दश सिद्धांतों की, चिता की

उड़ती हुई राख देखी, और समस्त संसार को समानता सिखाने के लिये तत्पर विलब-विलासी फँचों की इतिहास-प्रसिद्ध टेनिस भूमि के भी दर्शन किये ।

और दैव को भी पराजित कर जिसके प्रताप ने पृथ्वी को कँपाया और उसका नव सृजन किया, जिसकी जीवन कथा सदा ही रही है और रहेगी व्यर्थ का प्रेरणा गान और महत्ता की महा संहिता, सदृश राज-नीतिज्ञ, वीर और विधायक नैपोलियन की कब्र पर मानपूर्ण श्रद्धाजलि अर्पित की ।

तीनों कालों की छो-समाज की आत्म-ज्योति सदृश, सरस्वती की सहोदरी, रणांगण पर चढ़ी हुई, धरणी को कँपाती हुई, विशुद्ध और बीर जान आफ आर्क के स्परण-मन्दिर में हाथ जोड़कर उन्होंने प्रेरणा की याचना की ।

और सखी की आँख में एक अद्भुत आशा जगमगा उठी ।

प्रणय के लिये प्रतिष्ठा खोकर जो सन्मान की प्राप्ति में देश-देश घूमे फिरे और अंत में दया याचना करते-करते मर गया वह विद्रोह ऐवेनार्ड और उसकी संसार से भुलसी हुई सखी हेलोइस को कब में साथ-साथ सोते हुये, जो एकता जीते जो प्राप्त न हो सकी उसे मर कर प्राप्त करते हुये देख कर शिशु के हृदय ने भावी से मूक प्रश्न किया : “ऐसा भाग्य समस्त प्रणयियों के लिये क्यों नहीं बनाया ?”

सत्ता और धन का अधिकार स्थापित करने के लोभ में अंधे, सर्वभक्षी ब्रिटेन के सुरुद्य बाजार लंदन में बे गये । पैसा, पैसा, केवल पैसा; उसकी अश्रमित सेवा; उससे ही संजोये हुये जीवन और आदर्श—यह था इनका सर्वव्यापी सिद्धांत । खाता-बही बाँधे हुये इनकी आत्मा अभिमान में छूबे जगत को ठगने का धन्धा ले बैठी थी ।

जैसी आत्मा वैसा ही इसका आविर्भाव : भिलगिलाता हुआ

अंधकारमय आकाश तथा धूमिल गलियाँ, और जैसे कीड़ियाँ भीटे में दौड़ रही हों। ऐसी धन मुग्ध नर नारियों की निरन्तर को दौड़ा-दौड़।

ये देश बन्धुओं से मिले, धूमे किरे, और आनन्द उड़ाया। चित्र देखो और संग्रह-स्थानों का निरीक्षण भी किया—जैसे पेरिस—रोम का स्पष्ट अनुकरण! और प्रति दिन निरखी इसकी राष्ट्रांग सरस नाव्यकला!

जहाँ चृद्ध महार्णि सदश निराड़वरी न्यायमूर्तियाँ कानून से साम्राज्य का संसार गढ़ती हैं वह प्रिवी काउन्सिल भी देखी।

जगत का भावी निर्माण करने का अधिकार ईश्वर ने इनको ही दिया है यह मान कर अंग्रेजों द्वारा देश-देश में नौबत बजाने का उद्यम जहाँ अपनाया जाता वहाँ विच्छू सदश सन्तान-भक्ति “लोक सभा की जननी” के उन्होंने उद्देश से दर्शन किये। यहीं से स्वातंत्र्य के संग्राम आरंभ किये थे हैम्प्डन, बर्क और मारेग्यु ने; यहीं प्रत्येक वर्ष हिंद के जुये पर बंध बांधे जाते हैं; स्वातंत्र्य और परतंत्र्य की सरिताएँ यहीं से ही प्रगट होती हैं और फैलती हैं।

अंग्रेजी संस्कृति की जननी सदश आक्सफोर्ड की महाविद्यापीठ भी उन्होंने देखी; और मुन्दर हरे खेतों में होकर बहती हुई, नील जली ऐवन के किनारे पर बसे हुये, मुन्दर, सुघड़ स्ट्रैटफर्ड में जाकर शैक्स-पियर के निवास स्थान के दर्शन किये।

इस घर में और इस टेबिल पर ही लिखे गये थे विविध रंगी रूपक; और रचे गये थे जीवित से भी अधिक जीवित ऐसे हैम्लेट, थोथेलो, और डेस्टेमोना, भगवान यैकबेथ, गविंछ कोरिओलेनस और गणियों से भी अधिक गप्ती आमर फॉलसटाफ़।

इन स्वजनों के सर्जन गृह को रिश्तु और सखी ने घन्यवाद दिया और विभिन्न रूपों में प्रेरणा प्राप्त की।

शतरंज की पाटी सदश छोटे, मुन्दर खेतों से भरी हुई भूमि देख-

कर, अंग्रेजी सागर को विहंगम दृष्टि से देखते हुये, वे विमान पर चढ़ कर फिर पैरिस बायिन आये।

अलकापुरी का सा आदम्बर धारण किये खड़ी हो, ऐसे स्वच्छ, सुन्दर जैसे और स्वप्न सदृश आहलादक माटे काली में लोभग्रस्त व्यापरियों की भयंकर मुख रेखाओं से वे बिधे और उन्होंने स्वच्छीरी विलास के तांडव नृत्य देखे तथा सुने।

आखिर मार्सेल आया और भारत को आने वाली नौका प्रतीक्षा में खड़ी दिखाई दी। तीन महीने के महजीवन की पूर्णाहुति आएम्भ हुई।

शिशु का व्यथित हृदय विदीर्घ हो गया।

अब वे दिनभर साथ नहीं रह सकेंगे, और न हँस सकेंगे, कूद सकेंगे या देख सकेंगे जीवन और दर्शन के दिन प्रतिदिन बदलते हुये रंग।

अब वे हर समय नहीं बैठे रह सकेंगे, अपनी शान-तृपार्ति सखी को अब वह शिशु इतिहास और साहित्य के पाठ भी नहीं पढ़ा सकेगा।

अब वे साथ साथ नहीं सुन सकेंगे, एक दूसरे की आत्मा का आर्त और अद्भुत संगीत। अब साथ साथ हड्डेर कुल्म में वे नहीं सुन सकेंगे एक दूसरे के हृदय की एक लय बनी हुई धड़कन……

जीवन अब फिर परिवर्तित हो जायेगा आचार-प्रतिष्ठा-कर्तव्य और वियोग में।

विशाल जगत में बहुत से प्रणय और सुख पाते हैं। बहुत से निर्लंब प्रतिष्ठा त्यागकर, किसी का भी साहचर्य खोज लेते हैं। बहुत से संकुचित संसार में से भागकर, एकोत में आचार का त्याग कर प्रणय की पूजा करते हैं।

“पर हमारे कर्म में क्या लिखा है सखी!” शिशु ने व्यथित होकर पूछा “प्रतिष्ठा की मुक दासता, संयम की हुःसह शुखला, आदर्श के

कूर आरे । और ये सब दिये भी थे तो निर्दय विधाता ने क्यों दिया प्रणय विभोर हृदय तथा समान स्वभाव ?”

तैयारियाँ हुई । शिशु ने कहा, “मेरी सगि ! तीन महीने एक पल की तरह जीत गये अब ऐसा अवसर कदाचित् ही मिले और अब तो सारा जीवन इसी समय के संस्मरणों की जुटाई हुई समृद्धि का व्यय कर काटना पड़ेगा ।

दोनों के आँसू आ गये……

स्वप्ननिद्रा से जगा देने वाला मुर्गा बोल उठा……

पल भर के लिये जगत् मिथ्या लगा और शिशु ने गाढ़े सर में कहा, “हस समय मेरी शिराओं में रक्त नहीं बहिक ज्वाला का संचार हो रहा है ।”

वे जगे, जुदा हुए और शिशु दूर चला गया आँखों से बहुत दूर ।

6

महानर में वापिस आते समय, पहसु की तरह ही रहेंगे ऐसी आशा थी पर अब पहली जैसी कोई बात रही न थी । जीवन के साथ महीनों का साहचर्य ज़़़द गया था ।

तेजोमूर्ति को देखकर अंधे को आँखें हुईं । जिसने संवादी हृदय की तन्मयता देखी न था, पढ़ी न था और जो सुनकर सदा हँसती, वह सती भी दो जीवनों में एकत्र का आभास पाकर तरस रही थी । स्थिर, गम्भीर थी पर अब वह बिछल बन गई । सेवा को ही जो स्नेह मानती थी वह भिक्षार्थी बन गई—मुधा घरसाने वाली आँख की, जीवन में उल्लास भर देने वाले सर्व की, रग-रग को नचा देने वाले स्वर मार्दव की ।

शिशु और सती का स्नेहमय संबन्ध भरे हुए जलाशय सदृश धीर और शांत, ऊषा के प्रकाश सदृश ठंडा और मीठा था। उसमें वह अब तक रह रही था। पर सती को आब आवश्यकता थी, गगनचुम्बी महातरङ्गों तथा मध्यान्ह के प्रखर तथा झुलसा देने वाले प्रताप की।

पहले वह शिशु को स्वस्थ मानती थी, अलग और दूर, देव पद का अधिकारी। अब यह देव मूर्ति, पत्थर के सिंहासन से उतर कर उर्मियों में नहाती और नहलाती, मानव देव के मोहमय सन्दन से नाचती और कूदती, हँसती और हँसाती दिखाई दी; और इन उर्मि तरङ्गों में छूबने की उसे भी आकांक्षा हुई।

जो दिन भर बिना काम कभी भी न बोलती थी उसकी जीभ में वाक्पाटव आ गया जो बिना ढोभ के शिशु का कर सर्प भी न करती थी जो निद्रा नष्ट हो जाने के डर से सोते हुए शिशु का स्वप्न में भी सर्प नहीं करती थी, वह विहळ होकर सारी रात प्रियतम के गले से चिपट कर सोने लगी।

और सली के संस्मरणों में जीवित रहने वाला शिशु जुदाई और संयम के भार के नीचे कुचला हुआ, कहीं ऐसा न हो कि तप नष्ट न हो जाये, कहीं ऐसा न हो कि सती के दुःख पर स्वार्थ रचने का प्रयोग हो जाय इस डर से सदा कर्तव्यनिष्ठ रहता, फटते गाथे सती से स्नेह प्रदर्शित करता, रोते हृदय से उसका आलिंगन करता—और रात में जब रोम-रोम अनन्त विरह से जलता तब, खुले हुये नेत्रों से सती को हाथ पर सुलाता।

वर्षों तक आकेली रहने वाली सखी, भी पहली बार प्रतिपल करती, प्रतीक्षा व्यवस्था की लोभी बन रही थी शिशु की संरक्षक वृत्ति की; उच्चारण के कंपन से तड़पन का आभास कराने वाले स्वर की, अमृत में स्नान कराने वाले उसके नयनों की; अपने घरणों में ही मोहू मान कर बैठी हुई उसकी रसिकता, बुद्धि और उर्मि की। वह बाहर जाय तो

पलभर का दर्शन और रात को वापिस आये तब दो चार बड़ी का वार्तालाप—इन छोटे-छोटे, खिलरे हुये तुपार कणों से, अगस्त्य सदृश तृष्णा शांत करने का प्रयास करते-करते धैर्य और हिम्मत दोनों ढूटने लगे ।

भयङ्कर चक्र में फँसा हुआ शिशु पागल ढोर सदृश अशांत बन गया ।

दुखता माथा लेकर वह उठता, अस्वस्थ चित्त से अभ्यास कर सती को रिभाता; और बादर जाने के समय की प्रतीक्षा करता । उसकी प्रतीक्षा करती हुई सखी के एक हास्य की प्रेरणा पाकर वह काम पर जाता । रात तक निर्बल शरीर से भी काम में लगा रहता । और रात में तीनों जनें बैठ कर प्रसन्न मन से बात करते ।

आर जैसे-जैसे काली रथिणी सी अन्धेरी रात उसके आस-पास बीमे बीमे सरकती-सरकती कोमल स्पर्श से उत्तराको रोमांचित करती वैसे ही वैसे उसके फन में से निकलती हुई आधी रात की मन्दी-नन्दी लहरें उसकी नाड़ी-नाड़ी में विषमय फुँकार भर देतीं । निराधारता का प्राण भेदक डंक अङ्ग-अङ्ग में विष का प्रसार कर उसे छुला-छुला कर मारता । और उसके धम-धम करते मस्तिष्क में तीव्र वेदना फैली रहती ।

हाथ पर राती को सुलाकर वह प्रत्येक घंटों की कूर आवाज़ें गिनता । त्रास फैलाने वाले इस ज़हरी समूह को छोड़ने में अशक्त और सहने में असमर्थ, अस्वास्थ्य-मूर्ति शिशु, निरुन्तर प्रश्न एळा कर तड़पता;—यह अप यह है या व्यथा ? यह पाप है या पीड़ा ? यह कर्म है या वेदना ? किन लिये किस लिये ? यह वेदना ?

पर ऐसे अवसर पर, भागने वाले पैगम्बर मूमा के आगे आगे जिस प्रकार वहि स्तंभ पथ प्रदर्शन करता था, और कैवल्य पद साधने वाले समाधिस्थ को जिस प्रकार प्रत्येक दृष्टि पथ में अमिक्षवंत तेजों गिरु आकर्षित करता है उस प्रकार शिशु की व्यथित दृष्टि के आगे सदा ही

दिखाई देती, प्रेरित करती, पथ प्रदर्शन करती तमिक्ष से प्रकाश में ले जाती उसकी और उसकी सखी की अविभक्त आत्मा ।

वह भगीरथ प्रयत्न करता और उसे पूरा करता ; उसका माथा गगन तलसे स्पर्श होता हुआ सब देखते । उसकी आवाज में सुनाई देता थी प्रेरणा की प्रौढ़ प्रतिष्ठनि । और जगत् 'वाहवाह' करता । पर कदाचित् यह बात कोई भी न जानता था कि इस शक्ति का रहस्य कोई और ही था । वह ओठ पर ओठ दवा कर एकाग्र नर्थनों से उस विटु पर ध्यान करता; और उसके हिरण्यगर्भ सौंदर्य में उसका सदा ही दिखाई देते—वे गाल, भूरी स्पष्ट रेखायें मनोहर...अभिनव भाव से अद्भुत रंग वाले वे अधर, जीवन के उल्लास की असहनीय भूख से कौपते हुए...हर्डर कुलम में खड़ी हुई उसकी सखी । लता की तरह नीचे मुँही हुई...उसकी शब्दों की प्रतीक्षा करती हुई, और वह कभी न भूला जाने वाला हस्त-स्पर्श । रुद्रवीणा के तार-स्पर्श पूरे होने पर उनमें से गूँजते हुए अपूर्व नाद सद्शा यह दर्शन उसके हृदय के तार को गुँजा देते ।

जिस प्रकार दो छोटे छोटे बालक साथ साथ बैठकर, घुणियें चलें, एक दूसरे की लीचा खींच करें, लड़-झगड़े और साथ में खेलें उसी प्रकार वे दोनों रात में दो तीन खड़ी बैठते और एक दूसरे के प्रति लिखी हुई कवितायें पढ़ते, पढ़ाते, और सुधारते ; बहुधा कल्पना के पंखो पर चढ़ कर वे नवीन खंडों के दर्शन करते और कभी कभी अशक्य सहजीवन के मेघ महालय खड़े करते ; कभी कभी हृदय के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तारों को एकत्रित कर और उन पर रंग चढ़ाकर सरस्वती माँ का मालायें गंथते । अपने संसारी जीवन व्यवहार के बीच का अन्तर भुलाकर, बहुत बार वे साहित्य सूजन के सहधर्म चार में काव्य-विलास का अनुभव करते ; दम्पति को भी दुर्लभ एकता से रसात्मक कुटुंब जाल का निर्माण करते ; और पंक्ति पर चिनित अपनी हृदय-भावनाओं की रेखाओं को साथ बैठे बैठे

निरखते ; पहचानते और फूले न समाते—स्नेहमय पिता माता की तरह ।

मित्रों ने पहले तो जी भर कर शिशु की हँसी उड़ायी ; फिर चेतावनी देकर अपनी विद्वता सिद्ध की । शिशु भिर दिलाकर हँसा, ‘‘मैंने बड़ी मुश्किल से प्रतिष्ठा प्राप्त की है ; अब बड़ी मुश्किल से तांडव वृत्त्य कर मुझे उसका संदार भी करना है । सृजन और विनाश अपने हाथ से ही तो ठीक है न ।’’

एक मित्र ने कहा, “भाई ; यह प्रेम का भदर्शन कैसा ? साथ में रोज बैठना किसलिये ? साथ साथ मैं फिर साहित्य की सेवा कैसी ? आवर्ण चली जायगी और चली जायगी कमाई ; और कोठी धोते हुए हाथ में आखिर कीचड़ ही रह जायेगी । महानगर क्या इतना विशाल नहीं कि उसमें चाहो हुई जगह न मिल सके ? क्या अर्वाचीन संस्कृति ऐसी संपन्न नहीं कि आवश्यक आवश्यण न दिखाई दे ?”

शिशु ने जवाब दिया, “जो जगत को न चता सकें वह चोरी से कर सखी को कलंकित कर ! ना, ना प्रतिष्ठा और मैत्री के बीच विरोध पड़ गया है । मैत्री की बलि देकर मुझे प्रतिष्ठा की रक्षा नहीं करनी । प्रतिष्ठा तो रक्षी है, रात में भी व्यस्त रहने वाले संसार कारभारियों ने, पड़ौसन की मौन मैत्री अपनाये हुए नीति के शुभचितकों में, उद्धार करने वाले आवर्खदारों ने । मेरे लिये तो एक मात्र प्रमाण है अपने अंतर की विशुद्ध वृत्ति का । नीतिमान होने में मुझे आनंद है, व्यर्थ जीवन व्यतीत करने में नहीं ।”

शिशु और सखी को सामने पैसा देकर विषय-तृप्ति खरीदने वालों, वर्म के बहाने पोथित विषय-नृति को भक्ति कहने वालों तथा बाल हिंसा में समाज रक्षा देखने वालों का जगत् तिरस्कार से देखने लगा । और रगों में रुधिर के बदले पानी लेकर फिरने वाले दीन हृदय के प्राणी—जिन्होंने नहीं देखा या नहीं समझा, एक भी महाउर्मि का आदेश—

सृत्यु के पैरंवरों की प्रेरणा से, जिस उल्लास को नरक का द्वार मानते थे, इन दोनों को देखकर, समाज की चक्की घुमाने के अपने पराक्रम में से आँखें छँची कर इन्द्र से बज्र गिराने की याचना करने लगे।

पर इन सब कार्यक्रमों में पड़े हुए आध्रात तीनों के मनों को चीर कर शरीर को अस्वस्थ करने लगे। सब का भार वहन करता हुआ शिशु, आकुल, अधीर और उद्देलित रहने लगा : रात और दिन उसका माया ओभित्त ही रहता। समुद्र किनारे कभी कभी वह अकेला घूमता; छिपते हुए सूर्य को अर्ध्य देता, और किनारे से टकरा टकरा कर निरर्थकता का अनुभव कराती हुई उमिमाला इसके अंतर के गम्भीर विश्वासों को प्रतिष्ठानित करती।

सती का भक्त हृदय निरंतर असंतोष से उद्देलित रहता। उसका मधुर हास सूख गया और आँखें दयनीय बन गईं। जो कभी भी न रोती थी वह बिना किसी प्रसंग के ही रोने लगी। शिशु जैसे ही जैसे उसको रिभाने के लिये तन मन और धन की भेंट चढ़ाने लगा वैसे ही वैसे वह कर्तव्य रायणता के विष्टले ढंक से खुल जुलकर मरने लगी, और बन गई स्थिर अशुर्भुटुओं की एक प्रतिमा।

निश्वास छोड़ती हुई सती से शिशु ने पूछा : “यह रुदन कैसा ? यह मूक व्यथा कैसी ? मैं जितना था उससे अधिक भावार्थी और उपकार वश अब हूँ। घर जैसा या वैसा ही दुग” सहश तथा अमेद है। वैभव बद्ध गया है पर बटा नहीं। क्या वहेम तुम्हें काटे डाल रहा है ? क्या इधर्या तुम्हें पीड़ा पहुँचा रही है ?”

आकन्द से भी अधिक हृदय-भेदक तथा उदास स्मिति से सती ने कहा : “नाथ ! पञ्चीस वर्ष तक मुझ मूर्खों को जैसी तुमने रखता है वैसा कोई भी नहीं रख सकता था। पर मैं क्या करूँ ? अपने सिवाय और किसे दोष दूँ ? बास वर्ष मैंने सेवा की पर न समझी प्रणय और न उँड़ला तुम्हारे हृदय में उमिरस, पर मुझ मूर्खों को जैसा स्नेह मिला उस स्नेह

ने मेरे अन्तर के ज्ञाण तारों को झिलमिला दिया। सुके वहम नहीं; भगीरथ प्रयत्न से हृष्य की वासना जकड़ कर तुम शुद्ध रहे हो, और बने हो कर्तव्यशील; पर कर्तव्यशीलता और शुद्धि से किसी का तड़पता हुआ अन्तर शाँत हो सका है?

“मैं अब अपनी आँखों से देख रही हूँ—एक आदर्श^१, महत्वाकांक्षी और भाव वैविद्य में एक लय, जैसे एक दूसरे के लिये ही बने हों ऐसे तुल्य स्वभाव वाले जी पुरुष ! मेरे जीवन के बंध ढूट गये हैं प्रियतम ! और समझती हूँ तुम्हारी अन्तर की सदा की कभी न भरने वाली जगह ! मैं सीधी-सादी दासी हूँ और पैदा नहीं हुई तुम्हारे जैसे की भूल को भर्ग करने के लिये । पर इसी सौच विचार में मेरा जीवन निष्फल हो गया है । अपने स्थामी की सहचारिणी बन कर उसकी समता करने की शक्ति मुझमें नहीं । अपने देव के बामांग में मैं निगुणी नहीं बैठ सकती । मंडप द्वार पर मार्ग^२ स्वच्छ रखने जितनी ही मेरी योग्यता है । मैं आशा भग्न हूँ । आकन्द मत करना, मिले हुए सुव को खोना मत, मैं पैदा हुई हूँ दासी और दासी रह कर सेवा करूँगी । और जिस प्रकार निभाई है वैसे ही निभाना ।”

शिशु ने उत्तर, दिया “सती ! प्रणय जगत को सुख देता है, मेरा प्रणय आकस्मिक आपत्ति है; विषधर सहश सामने फन खोल कर घूमता है और मुँह फैला कर मेरी बलि माँगता है । इसकी मोहिनी से मैं छूट नहीं सकता, और न अपने प्राण लेकर ही भाग सकता हूँ तुम्हारा आत्म-समर्पण और शांति, मेरा संतोष, स्वास्थ्य, और शरीर ये सब विकराल सुख में विनाश खोज रहे हैं । मैं क्या करूँ ? सारी जिंदगी इसको देख देल कर ही बीत गई; अब यह आ खड़ा हुआ । यह किसकी बलि होगा ? यह ‘किसे विष देगा ?’ इसका क्या उत्तर ? यह रहेगा या चला जायगा पर किर भी हमारी तीनों की तो मृत्यु है ही ।”

और वह रोया, सती रोई; सबेरा हुआ और तब तक दोनों रोते रहे ।

सखी की व्यथा भी बढ़ गई। पराये से भी अपरिचित उसके घर में रहना पहले तो कठिन था पर अब दुःसह हो गया। पुराने मित्रों का मुँह चुरा लगने लगा, पहले के आनन्द भी दुःखद हो गये। शिशु उसकी आँखों के आगे से खिसकता न था—उसके सुवह को दर्शन करना और उसे प्रसन्न करने के लिये काव्य रचना—इतने में ही समस्त जीवन की समानि थी। उसके दर्शन से रग-रग में अद्भुत नाद होता, और रोम-रोम में झंकूत होती एक अवरणीय झंकार। उसकी शब्द सुरली से नचाने में, उसके अशांत हृदय को सांत्वना देने में, घड़ी दो घड़ी का परिचय पूरा हो जाता।

शिशु के दूर होते ही सखी को आकुलता होती, कहने की बात बिन कहे ही रह जाती। सदा ही शिशु उसका था। इस प्रकार श्वासोच्छ्वास में उच्चारण करते रहने पर भी उसका अनन्त साहचर्य सेवन करना, उसकी जीवन सखी बनकर पलपल के सुख दुःख बाँट लेना, उसकी सृष्टि की नवीन रंगों से रंगना। ये सब अकलिप्त आकांक्षाएँ उसे पीड़ा पहुँचाती, और जीवन निरर्थक सा लगता।

वह देख रही थी—शिशु का शांतिमय संसार अदृष्ट हो रहा था; एकाग्र दृढ़ता से दुःख का भार बहन करता हुआ उसका शरीर निःसत्त्व होता जा रहा था; सती का उद्गेग दुःसह बन रहा था। और उग्र आसन्तोष के आवेश में, अपने दुर्भाग्य को दोष देती हुई इस दुःख में से अपनी आपत्ति में पड़े हुये शिशु को मुक्त करने के लिये वह मार्ग खोजने लगी, “शिशु ! मेरे मरने पर फिर सन्तोष हो जायगा।”

शिशु आद्र^१ नयनों से देखता रहा सखी ! तू कहाँ जाकर अकेली रहेगी ? किसको छुनायेगी हृदय का गान ? क्या दासत्व का दाग चिह्न मेरे ललाट पर ऐसा पड़ा है कि मैं अपनी जन्मजन्मातर की सखी को जीवित ही टक्कर मारने दूँ ? और सखी री ! विधाता द्वारा बनाई हुई चक्री में से मुक्ति का स्वातंत्र्य द्वार—तेरा सहजीवन—यह तो मैंने करतौं

के किवाह्नों से बंद कर दिया है। पर यह चक्री दिन रात धुमाते हुये, थका हारा, मैं अपनी अँधी आँखों के आगे एक मात्र तेजो बिंदु रसते हुये दैख रहा हूँ, क्या उसके भी रम्य दर्शन खो दूँ ? नहीं, नहीं, दुःख सहलूँगा पर अँधकार नहीं सहा जा सकता ।

आश्विन के भवीने की आलहादक शीतलता फैल गई और चारों ओर से धिरा हुआ वह शांति के लिये प्रथास करता हुआ गिरिशुंग पर गया। उसे अपने नाटक की समाप्ति पास आती हुई दिखाई दी। तीन जने कब तक तड़पते रहेंगे ? और कब तक शरीर हसी प्रकार दुःख सहता रहेगा ? यह समस्त जीवनचर्या एक मात्र अँधकारमय तथा निराशामय कर्तव्यपरायणता में समाप्त हो गई थी। पर ब्रव कब तक यह चलता रहेगा ?

क्षणिक शांति की खोज में वह छूटों की छाया के नीचे पत्थर पर बैठकर, समस्त जीवन को आलोचना करता रहा और मार्ग दर्शन करने का निष्कल प्रयत्न किया।

एक संध्या को बड़ा दुःखी, एकाकी और विचार मन बैठा था। चन्द्र, लाल, विशाल, अकेला, क्षीण और पर्वत माला के उस पार से जैसे अपना मार्ग भूल गया हूँ इस प्रकार लिङ्ग चरणों से आगे आया छूटों की भय भरी लंबी छाया पृथ्वी को अँधकारमय बना रही थी। एक मात्र पथन कुमुमों से लंचीला बेलों में रह-रह कर सर्दी के विरही दृढ़य का संदेश उसके कान में कह दरा था।

सर्वग्राही निष्कलता उसका गला धोटें लगी। वह दूफान किस लिये ? यह प्रथास किस लिये ? जिसमें सुख है नहीं और कभी मिलना भी नहीं उस संसार का क्या करें ? और ऐसे घन वैभव का तास्पर्य क्या ? चारों ओर उसने देखा पर मुक्ति की आशा की फिलमिलाती किरणें भी दृष्टिगोचर हो गई। वह चौंका.....

रक्त से आश्विन नैत्र लिये हुये शीतलता से धौंसे आते हुये धमराज

के महिय की गम्भीर, गाढ़ी प्रतिध्वनि करता हुआ भयंकर घटनाद उसके कान में पड़ा ।

उसे रोमांच हो आया । अंत में सब आशा का अंत यमराज कर देगा । एक संसारी और दूसरा प्रणय का इस प्रकार दो चक्र एक दिशा में जाने के बदले जुदी जुदी दिशा में जाकर उसके सृष्टि रथ के दुकड़े अलग अलग किये ढाल रहे थे । एक पहिया निकल जाये तो रथ नीचे गिर पड़े, वह कर्तव्य अष्ट कायर कहा जाय और जीते जी उसका संसार भस्म हो जाये, दोनों पहियों के होते हुए दूट जाये और जीत ले यमराज तो क्या करूँ ? कहाँ, जाऊँ ? तीसरा रास्ता सुझा । रथ स्वयं अपने हाथों से ही तोड़ा जाय, पहियाँ जहाँ जाये वहाँ उन्हें जाने दिया जाये ? फिर जैसी जिसकी शक्ति ।

सत् और असत् के भेद उसकी समझ में आये और पूर्वजों का पुण्य आँड़े आ गया । जहाँ तक संसारी सुख की आशा है, वहाँ तक कभी भी भेदों का विनाश नहीं हो सकता । कर्तव्य सत्य है या प्रणय ? पर निराशी होने पर जो प्रणय सिद्ध होगा तो वह विलास के लोभ से रहित, और जो कर्तव्य फलेगा तो प्रणय के साथ विश्वासघात किये बिना ही ।

यम सर्वस्व विनाश पर तुला हुआ है तो अपने हाथ से ही संसार की मोहिनी का क्यों न संहार किया जाये ? और नगत के लिये मुर्दे की तरह जीना क्या एक सूक्ष्म भावना के लिये जीना है ?

गम्भीर विचार कर उसने संकल्प किया : संसार को संकुचित करना, सती को सौंपना संसार की समृद्धि, सखी की आशा-सृष्टि का संहार करना, और एकाकी निर्धनता में जीवन संकल्प की खोज करना ।

फिर उसकी जन्म तिथि आयी और पुनर्जन्म का महापर्व भी । शिशु सखी के साथ में नगर के बाहर गया । दूर बहुत दूर, खेतों के उस पार नाना पर्वतों के पास जहाँ सागर के दर्शन होते हैं वहाँ । एकात्र मंदिर

आराधनारहित पड़ा था, वहाँ शंकर पार्वती के दर्शन किये, और बंगल में सुमुद्र तट पर घूमते हुए दुःख की चात करते हुए वे चले।

बहुत दिनों बाद वे मिले थे। सागर की धीमी धीमी लहरें पाल पर टकराती और उनके साथ हृदय की भवनायें भी एक एक के साथ जोर से टकराती। बातावरण में रस उछला जैसे हर्डरकुलम फिर आ गया हो इस प्रकार हृदय फिर नाचने लगा और कुचली हुई आशा सजीव हो उठी।

एक भग्न मन्दिर के पीछे सागर के पास पानी में खड़े हुए एक टीले पर वे बैठे।

गगन निर्मल था और सामने पर्वत खड़े थे श्याम। पूर्णिमा का चाँद उगा सुन्दित पर ग्रकाश उँड़ेलता हुआ, और सागर के शांत जल में, प्रकाश की वर्धा बरसाने लगा। चारों ओर सौंदर्य फैला और दोनों रस समाधि में संलग्न हो गये।

शिशु गंभीर होकर देखने लगा; “शुश्र सरिता के तोर पर वधों पहले ली हुई प्रतिज्ञाओं की संवत्सरी, ली हुई प्रतिज्ञाओं का हमने पालन तो किया हैं पर तब प्रश्यत को हमने पूरी तरह पहचाना न था। हमने तो प्रश्यत को समझा था नाचती हुए प्रेममय उल्लास मूर्ति। पर यह तो निकला म्लान-वदन और गंभीर। आँदूसिंक नथनों से अपने को देखते वियोग दुःख में धीमे धीमे विचरण करते गदगद कंठ से वेदना के गीत गाते।”

“शिशु ! क्या कह रहे हो ?” सखी ने कहा, “इसके साथ ही तो हम आज आशा से भरे हुए हैं।”

शिशु ने सिर हिलाया, “सखी ! इस दयाहीन ने आशा पुष्प उगाये हैं एक मात्र निराशा से पीड़ित होने के लिये। मेरी सखी ! मरण-सरिता के इस किनारे पर हमारे लिये नहीं पैदा हुई नव कुसुमों की सेज लड़ी, और नहीं पैदा हुए, उत्साह विभोर चुंबनों के मधुर विनिमय या सतत सेवन किये जाने वाले आहादक स्वर। हमारे ललाट पर तो लिखी है

विरह-निश्वास की चिंगारी या हिमशीतल निराशा का जमा देने वाला सतत शीत ।

“सखी ! प्रणय तो यथाशक्ति किया ही जाता है पर अब तो इसका सहोदर—यमराज—इसकी मदद के लिये आया है । मुझे उसके मन्दिर की घट-ध्वनि सुनाई देने लगी है । मैं मर जाऊँगा या तु मर जायेगी और बिन भागे हुए भोगों की इच्छा—न गये हुए गीत की लय सहश—प्राणों में धुट्ठन पैदा करती हुई दूर कहीं पीछे छूट जायेगी ।

“सखी ! मृत्यु ने किसी को छोड़ा नहीं और न यह हमको ही छोड़ने वाली । सखी ! बसिष्ठ और अंरुधती चले गये, और याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी का भी स्वर्गवास हुआ, राम और सीता भी जाते रहे, और सत्यवान को मृत्यु के सुख में से छुड़ा लिया तो भी सावित्री को यमलोक जाना ही पड़ा शीरी और फरहाद गये, और दौते तथा बीएद्रेस भी जाते रहे—भोगे हुए भोग अपने साथ ले गये और न भोगे हुए भोग यहाँ छोड़ गये । वे प्रणय की भावना के रूप में आज भी रह गये हैं । यही इनकी समुद्दिधि, यही या इनका सन्देश और यही इनके जीवन का साफल्य । तो सखी ! साथसाथ मर कर यह सफलता क्यों न साधी जाये ।

“सखी ! दूर एक सुरम्य स्थल मैंने खोज लिया है, वहाँ फैनिल रेखा ऊँची ऊँची कगारों के बीच मंदी मंदी बही जा रही है; निरंकुश घूमती हुई साहुओं की तान को, हिलते हुये सर्प ताल देते हैं; और मुँह फाढ़ कर किनारे पर खड़े हुये मकरराज मीठी नजरों से पनिहारियों के ग्राम-लाटके देख कर प्रसन्न होते हैं । वहाँ मंदिरों की आरती का नाद बहलाने वाला साँध्य पवन हृदय में अनन्त आनन्द टंकार करता है । मैं वहाँ, सत्त्व प्रधान प्रकृति के साथ जा कर रहूँगा और निष्काम प्रणय की अलख जगाते हुये तेरे नाम की जपमाला लेकर मोहू प्राप्त करूँगा ।

“सती का शरीर स्वस्थ होने पर संसार की समाजी को संसार

वैभव सपुद्दे कर मैं चला जाऊँगा; और कह जाऊँगा कि प्रतिष्ठा की वरासत देने के लिये कुद्र पिता के नाम का बालकों को विस्मरण करा देना।

शिशु ने लिज्जता से सिर नीचे झुका लिया।

सती देखती रही, अविभक्त आत्मा की मूर्ति सदृश इस त्यागोल्पुक प्रणयी को।

“तूमड़ी मैं दो आदमियों के लायक पानी रखना और गुदड़ी की कमी भी पढ़ जाये तो भी दो रखना, शिशु ! मेरे योगीराज का मृगचर्म उसकी अधीरी शिष्या के बिना और कोन बिछायेगा ? शिशु ! दू संसार त्याग देगा तब भी रहेगा मेरा ही।

और बादल में विलसित, प्रणयी-जन-प्रतिपाल, गम्भीर और मीठी हँसी हँसी।

और उसकी कल्पनासिक्त श्रांखों के आगे, रेवा के रम्य किनारे पर पर्णकुटी की पैदियों पर दिखाई दिया, गम्भीर, और तेजस्वी; विद्या और भावना के भार से झुका हुआ एक बृद्ध तपस्वी। उसके पास बैठी थी, श्वेत बालों से सुशोभित एक तपस्वीनी। दानों के नयनों में था एक तेज दानों के मुख पर थी एक मुद्रा, दौनों के स्वर में थी एक झंकार; और दानों का था एक सा हास्य, निर्मल, गम्भीर, आनन्दमय, एक चर्यांति के दर्शन सदृश.....

‘और वर्षों’ बाद वहाँ दिखाई दिया अविभक्तेश्वर का मंदिर, स्नैहियों के हाथ से निर्मित। उसकी नींव रखी गई थी दो शरीरों की भस्म पर मृत्यु के बाद एक दूसरे के साथ सदा के लिये संलग्न। उसकी ध्वजा पर अखंड प्रणय ज्योति फरफराती और गाँव-नाँव के प्रणयी और अनेकों प्रणयार्थी चालाएँ और रसोत्सुक बटुक, प्रणय पिपासु युवतियाँ और प्रेमविभोर युवक; ऐक्य की आशा में जीवित नर और नारी, और संवादी जीवन भोग कर एक दूसरे के हाथ में मरने के लिये तरसते हुये

बृद्ध—वहाँ सब दौड़े हुये आते, और स्वर्गीय तपस्वी युगल की अमेय प्रणय-ग्रन्थी के प्रसाद की याचना करते.....

६

शिशु ने ऊपचाप संसार को संकुचित करना आरम्भ किया पर सती बीमार पड़ गई। बहुत दिनों तक वह जीवन और मृत्यु के बीच झूलती रही। अचेतनता की अवस्था में उसे केवल शिशु की पगड़नि सुनाई देती। उसके हस्त-स्पर्श से ही उसे शान्ति मिलती। अचेतनता में दबे हुए दौंतों में से एक ही स्वर निकलता “नाथ !”

स्नैहशील शिशु ने बहुत ही हाथ पैर पटके पर कुछ न हो सका—और महा भय आ उपस्थित हुआ। शिशु संसार त्याग दे और स्वर्य, उसकी संसार सहचरी, ऐसा न हो कि पीछे रह जाये इस भय से जैसे भी हो, वैसे ही, अल्पवय वाली, मुन्दर पतिभक्ति की भावना सहश सती, स्वामी का नाम रटती रठती, विदेह हो गई। वे निश्छल नैऋ और गम्भीर हास्य तथा सादी सरल एक निष्ठा अद्दश्य हो गई—एक मात्र स्मृति रूप में अवशेष रहने के लिये।

तीनों में यह थी विशाल-दृदयी और स्वार्थरहित। केवल देना उसने चीखा था—और लेना वह जानती न थी।

शोक ग्रस्त, निस्तेज, शिशु घर में अकेला बैठा था, नवीन संयोगों पर दृदय से विचार कर रहा था। सखी आकर खड़ी हो गई।

“सखी !” शिशु ने कहा, “बृद्ध माता और छोटे बच्चों का अब अकेले ही पालन पोषण करना पड़ेगा !”

“नहीं”, सखी ने शान्ति से कहा, “यह अधिकार अब मेरा है।”

और दिन-रात वह माता की पुत्री और बच्चों की माता होने का प्रयत्न करने लगी। माता ने समझी इसकी परिचयी, और वह प्रशंसा मुग्ध बन कर देखने लगी, और बच्चे उसकी संस्कारी तथा स्नेहमय संरक्षण वृत्ति की अमृत वर्षा में भीग गये और मातृनियोग के आँख सूख गये।

बहुधा वे साथ साथ घूमते; दूर निकल जाते बहुत दूर, भाँति भाँति की बातीओं में व्यस्त जैसे कोई यात्री हिमालय के शृंग पर, चारों ओर घिरे हुए मेघों से त्रस्त, घिरे हुए कुहरे से आगे बढ़ने में अशक्त, सहम कर खड़ा रह जाये—और आकाश के एक कोने में अंधकार के पटल की कोर खुल जाये—और शुभ बादलों की सोने-मढ़ी रेखाओं के उस पार गहरे भूरे आकाश में जड़े हुये और शाश्वत हिम से आच्छादित शिल्पर पर, छिपे हुये सूर्य की किरणों का सीधा, विशाल तेजोमय, प्रवाह पड़ता हुआ दिखाई दे और उसके हृदय में आशा की किरणों का प्रकाश फैले, उसी प्रकार वे भी आशामय हो गये।

“तप बिना सिद्धि नहीं” इस मंत्र में छिपे हुए सनातन सत्य की प्रतीति होती जा रही थी।

सरोवर में जिस प्रकार हंस विहार करते हैं इसी प्रकार उसके कहे जाने वाले घर में सखी निलेप विहार करती—सरलता से जलचरों को डराकर भगा देती; अमेघ गौरव से मान आकर्षित करती।

एक बार वह गौरव भंग हो गई। गर्व भरी कोई जगदम्बा को घ से काँपे, इस प्रकार वह काँपने लगी।

“शिशु!” उसने कहा, “जिन्दी कृत्र जैसे इस घर मैं द्वाव में नहीं रह सकती। जब से मैं बेच्ची गई तब से मैं न तो हूँ यहाँ की यहिणी और न हूँ सचिव मैं हूँ एक मात्र अन्न जल से पेट भरने वाली यात्रिणी। मेरे गौरव की स्वीकृति यही थी मेरी बिना लिखी हुई शर्त। आज वह शर्त दूट गई है और मैं घर छोड़कर जा रही हूँ।

और तुरन्त ही छोटे प्रतिज्ञ, संन्यासिनी सहश अपरिग्रह विलासिनी, संसार ग्रन्थी द्वारा अन्याय से बरबस दिये हुए धर और वस्त्राभूषण छोड़कर चल दी। धन-वैभव में सदा पली हुई वह सुकुमार सुन्दरी स्वस्व की सिद्धि में ही मोक्ष मान कर अकेली गौरव की रक्षा के लिये बाहर निकल पड़ी।

दूर एक मित्र के छोटे से धर में स्थयं ही अपनी सेविका निर्धन पर गर्विष्ठ, वह अकेली रहने लगी।

जी अर्थात् पुरुष की दो पैर बाली मिलिकथत यह मानने वाले क्या यह चुनौती सहन कर सकते थे? अपमानित संसार की प्रतिष्ठा उसे फिर गिरजे में बन्द करने का प्रयास करने लगी। भागने के लिये अस-मर्थ धायल हरिणी सहश सखी की रक्षा करने वाला शिशु, इस प्रतिष्ठा के बन्धन चूर-चूर करने लगा।

पर बादल घिर आये। किस क्षण क्या होने वाला है वह दोनों में से कोई भी न कह सकता था। आखिर महानगर छोड़कर गिरिशंग पर बसे हुये विद्यालय में संसार की दृष्टि-परिधि से बाहर सखी संरक्षण की खोज करने लगी।

सखी ने निश्चय किया कि विद्या-प्राप्ति में वर्ष व्यतीत किये जायें; विदेश में जाकर पदवीधर बन कर शिशु के सहचार में आर्थिक स्वातंत्र्य का सेवन किया जाये।

शिशु के दुख का पार न था। बृद्ध माता और छोटे-छोटे निरावार शिशु। सखी अकेली, अस्वस्थ और दूर। न होते थे अब उसे सखी के दर्शन और न मिलता था थके हुए हृदय को प्रेरित करने वाला या सर-स्वती की सेवा में सहयोग देने वाला। स्वयं अकेला, कर्तव्यमय; एक-मात्र सखी की अविभक्त आत्मा ही थी उसके दिन भर की प्रेरणा और रात्रि का आश्वासन।

अन्त में थक कर उसने, माता, सन्तान और सखी के लिये गिरिशंग

पर निवास स्थान खोजा—जहाँ सखी की स्नेहमय, हरी शीतल छाया के नीचे, शिशुओं का कल्लोल बसन्त की अनुभूति कराये और माता के बृद्ध हृदय को प्रफुल्लित करे। संसार की विषमता उसने त्याग दी।

जैसे किसी कवि की कल्पना सरसता की ओर अग्रसर हो जाये इस प्रकार यका हुआ शिशु, महानगर का जंजाल छोड़कर बृक्ष और लताओं में गिरिशृंग पर बसे हुए अपने आवास में आया।

वे आते तो बृक्ष और लताये हँसतीं। बच्चे नाचते-कूदते और उन्हें घेरे रखते। सखी की आँखें में से स्वागत का निमन्त्रण बरसता। और माँ का हृदय खिल उठता। सन्ध्या को वह और सखी, पर्वतीय पगड़ंडियों पर होकर जाते, संसार के बन्धन भुलाकर एक तालबद्ध होकर चलते। और उनकी रग-रग की संवादी तान आशा और उल्लास का सन्देशा देती।

रात में बच्चे नाचते, सखी गाती, शिशु बजाता और माता आनन्दित होती; नहीं तो सब बैठकर, बातों की कला-कल क्षेत्र देते और हँसते। अद्भुत औदार्य, संस्कार और भावनाशीलता के प्रताप से, कल्लोल पुष्पों से समृद्ध, संस्कार की शीतल लहरें ढोलतीं, विशुद्ध स्नेह से महकती रसकुञ्ज रचाई जाती। बाह्य जीवन में प्रतिष्ठा के बल पर मिलने वाली यह सब प्रथन परंपरा वहाँ शिशु के थहाँ एकांत धर की दुःसहसा में बड़ी ही महँगी पड़ती थी; क्यों! कि शिशु की पराधनि की कल्पना करने वाली प्रश्न उन्नासिनी अपने हृदय की धड़कन में केवल सुन पाती उसी के हृदय की भाष तरंग और उसके सुख पर बिलखित हास्य किरणें।

“ तप की सिद्धि हो रही थी अविभक्त आत्मा के दर्शन हो रहे थे, और जन्म-जन्मान्तरों का वियोग धूम विलीन होता जा रहा था।

पर यह जीवन दोनों को पीड़ा पहुँचाता था। प्रश्न के पर्ण साक्षात्कार का चमत्कार संसार में देखने के लिये, अविभाव्य दम्पति बन कर

संसार के राजमार्ग पर गर्व से विचरण करना, और देह लग्न की बेदी पर भावना-नियोजित विज्ञों की आहुति देना—ऐसी-ऐसी कितनी ही अपूर्ण भावनायें उसके उल्लास को लुप्त कर देतीं। अधीरता के धाव उसके हृदय को पीड़ा पहुँचाते और वे आकुल होकर कह उठते ‘कब ? श्रेरे कब ?’

जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे ही अधीरता का डंक दोनों के मन और शरीर में अस्वास्थ्य का विष फैलाने लगा दिन बिताने पर भी न बीतने लगे। अगस्त्य ऋषि से वायदों से आकुल होकर वे तड़पने लगे। महीनों बीत गये। समय और भावना उल्लास के स्वप्न और सहजीवन के विचार, झूठे से होते गये.....कब ? श्रेरे कब ?...

अन्त में...अन्त में...समय आया समाज की बाँधी तुर्ह लग्न शुल्क दूट गई !...

शिष्य पागलपन में कहने लगा :

भवन को सजाओ, विविध रंगों से चित्रित करो, नव-पल्लवी तोरणों को द्वार-द्वार पर बाँध दो और आओ आओ आओ, हृदय की पराजय देखें।

कहीं ऐसा न हो कि कुछ रह जाये, चरण रज कभी भी विलीन न हो शोभा कम न हो, सौन्दर्य सुशोभित हो ! आओ आओ हृदय की पराजय देखें।

कुमुम की माला लाओ, सुगन्धि सुवास फैला दो, दीपक में तेल भरो, कुमुम से अभिषेक करो। और आओ हृदय का आदान-प्रदान देखें।

एक शुद्ध बेदी की स्थापना करो, अग्नि को पास में रखो, वसिष्ठ और अंशुधती तथा अमरावती को साक्षी बनाओ और आओ आओ हृदय का आदान प्रदान देखें।

“मन्त्रों का उच्चारण करो, अंतर्पट को उघाइ दो, एक आत्मा के

दो शरीर पिर उनका हस्तमिलाप कैसा ? आवो आवो हृदय का आदान प्रदान देखें ।

“सुखो ! किस लिये ज्ञोभ करे ? क्या हाथ से हाथ न मिलायें, जन्म से ही जिसे करते आये हैं उससे आज क्या डरें ?

“आशीषाद, दो, अभिनंदित करो, बाजों की धुन बजती रहे, गगन गूँज उठे ।

संसार चाहे जो कहे पर सुके वधु न दिखाई दे । यह तो मेरी सहचरी, सृजनकाल से ही मैंने इसको बरण किया था ।

शिशु ने प्रियतमा को महावर लगे हुए चरण धरती हुई और हर्ष से प्रफुल्लित यद्देवी के रूप में आते हुए देखा, शिशु का धर इस प्रकार तेजस्वी हो गया जिस प्रकार दृढ़ को नई जबानी आ गई हो । आधी रात में, मित्रों को विदा कर, हर्ष भार से ऊके हुए, दोनों, अकेले मिले । वे सदा एक थे उनकी यह एकता संसार ने भी स्वीकार की । संयम की शृंखला, जर्जरित और निरुपयोगी, उन्होंने फैक दी । जल चक्रों को पार कर थके हुए बाहुओं से बहुत दिनों तक पानी काटते हुए दो तैराक, जो मृत्यु के भयसे कौपते हुए जल के धरातल पर रहने में ही सर्वस्व मानते हो, हाथ में आये हुए काठ को पकड़ कर किनारे पर आ जायें, और निश्चात पर निर्भर एक दूसरे से लिपट जायें तथा अतीत के दुख की समृति में आँसू बहाये, इसी प्रकार फिर एक दूसरे के कंधे पर माथा रखकर, शिशु आँसू और सखी, आँसू में मिलाकर हर्ष से नाचते हुए, पास में आये हुए हृदय की धड़कन सुनकर निश्चित शांति का अनुभव करने लगे ।

कहाँ जुदा संसार और कहाँ जुदा जन्म-स्थल ? कहाँ अंतर का अनंत पट ? कहाँ विज्ञों की अद्वृट परम्परा ? कहाँ तद्वप्न की तीव्र वेदना ? कहाँ वियोग के तीक्ष्ण शूल और संसार के समझे जाने वाले बहिष्कृत पुरुष ? और कहाँ अनघड़ कवि द्वारा रचे हुए नाटक का यह असंभाव्य

अंत ? यह विद्वां का, कभी भी न सोचा हुआ, अकलित अंत संयोगों का का सुखद परिवर्तन—प्रेमियों की असाध्य सी पराकाष्ठा—यह विवाह — यह सुख—यह शांति !

जग से पूजे जाने वाले प्रेमियों के मार्ग पर विचरने वालों का दुष्परिणाम, प्रणय तपस्त्रियों को ग्रिय लगने वाली स्मरण संहिता का पाठ, दूटा हुआ हृदय और दूटी हुई आशा—ये सब इनकी प्रतीक्षा में बैठे थे । पर जहाँ आशा विलीन नहीं हुई वहाँ सिद्धि अवश्य मिली है ।

जिसको सरस्वती की स्वर्णमय प्रतिमा के रूप में पूजा था वह दूरस्थ और देवीप्यमान देह वाली, शिशु के गले का हार बन बैठी, और सरोवर से से सजल तथा गंभीर नेत्रों से देखने लगी । जहाँ कभी भी न हो वहाँ मन्थन हुआ और सरोवर के जल में से, लड्जा शीला, लक्ष्मी सदृश, अभिलाषिणी तथा संकोचशीला, उत्तर आयी, स्वर्ण की प्रतिमा, पूज्य और अस्पर्श्य, धीरे धीरे नीचे झुककर उसके मुज युगलों में पिंडल पड़ी । दूटा हुआ हृदय जुड़ गया । अधर पर अधर रस उँड़ेला गया अन्त्यधार से । जीवन निर्भर, आत्म-विसर्जन का अनुभव करते हुए उल्लास सागर में लुप्त हो गया ।

पौ फटी । अंधकार मय भवन में से निशा विलीन हो गई, छाया वज्ज समेट कर आनन्द की अवधि से तृप्त ।

शिव और पार्वती सदृश, भावनासिद्ध और आत्म-सन्तुष्ट, एक दूसरे का हाथ पकड़ कर वे संवार को निरखने लगे । भवन बन गया इनकी भावना का भंडार, जीवन बन गया इस भावना का एक लंबा, अस्थिर प्रतिविव ।

गोरी गुरु के 'माहेश्वरी' शृंग पर गंगोत्री और जन्मोत्री शृंगों की शीतल छाया में उन्होंने अन्म जन्मांतरों की भूख मिटायी । सुन्दर तस्वरों की छाया में विहार करते हुए दुःखद स्वज्ञों की तरह पूर्वाश्रम याद कर वे हँसे । नर्तन यहों में, दिन और रात उल्लास का अनुभव

करते हुए नर नारियों को निरखकर हृदय में उल्लास की उर्मियों का अनुभव किया। हर द्वार तीर्थ में बहने वाली, मधुरव-कारिणी, रमण्य जान्हवी के किनारे पर तपस्वी विहीन तपोवन में से जाते हुए, गोदावरी तट पर विचरण करते हुए राम जानकी के अनुभवों का स्मरण किया...।

किमपि किमपि मन्दमन्दमासक्तियोग ।
दविरलित कपोलं जल्पतोरकमेण ॥
अशिथिलपरिरंभैः व्यापृते कैक दोषणो ।
रविदित गतयामा, रात्रिरेवं व्यरंसीत् ॥

१०

शिशु और सखी महानगर की माया के दर्शन करते हुए दिन व्यतीत करने लगे। नयनों का था एक ही ध्येय, एक दूसरे के नेत्र दर्शनों का, हृदय की थी एक ही हौस, एक साथ धड़कने की, आँगों की थी एक ही इच्छा, शाश्वत संग की। इनके मन में थी चकवाकों की सी एक ही चिंता कि ऐसा न हो कि कहीं पञ्चव्यवहार मध्य में आ जाये।

देवदेवियों जैसा इनका था एक ही जीवन क्रम, जैसे एक ही सौंदर्य के दो दर्शन हों।

युगल बाहुओं में बैठे हुए ये शरीर और मंदिर में थी सदा ही ये जगमगाती हुईं, श्रुचंचल और अविचल, सी, एक आत्मा की निश्चल ज्योति।

भारा शालियों का प्रावीण दिखाकर शिशु ने बहुत से अनुभव प्राप्त किये। वाग्पाठव और चातुर्वद, सत्यासत्य का भ्रम, पैसे का विनिमय

और सिद्धांतों का पृथक्करण तथा स्थापन इसी में इनका समय व्यतीत होता रहता ।

महानगर में प्रतिष्ठा मूर्तियों तथा खद्गोत सदृश चमकती हुई सुन्दरियों के साथ में, हँसते और धूमते हुए, विलास स्थानों में आनंद मनाते हुए उनके महीने पर महीने व्यतीत होते गये ।

हृदय में बसे हुए गुज्जन को शब्द द्वारा प्रगट करते हुए सरस्वती की सेवा में अनुरक्त उस युगल ने जगत को भी अपने अंतर के उल्लास का भागी बनाया ।

और एक दिन सुवह शिशु ने देखा अपना भाल, सखी ने देखा और पहचानी अपनी आँख; और दोनों ने देखा और निरती एक दूसरे की रेखायें—कुञ्जबुलाते हुए, रोते हुए मोहमय एक बालक में । और हर्ष की श्रावधि से मूर्च्छित माता-पिता, अपने प्रणय की छोटी सी प्रतिमा देखकर, प्रसागान में लीन हो गये ।

शिशु ने युवकबृन्द के संस्कार और शक्ति के पुर्णसंगटन के लिये प्रयत्न किये; और अध्यापकों के संसर्ग में वह आदर्श विद्यार्थीओं की भावना के स्थान देखने लगा । उसने शासन धाराओं की निष्पक्षता स्थापना के लिये, सार्वत्र्य का संरक्षण करने के लिये एकत्रित हुए प्रजाप्रतिनिधियों की सभा गुज्जा दी । राज्यसत्ता के महार्मदिरों में वह धूमा किरा और वहाँ महादेवों के परिचारकों का परिचय खोजा ।

इस प्रकार दोनों, भोले और भावनामय सोने और चाँदी के रूप में रमण करते । लाडले और सुकुमार वे दोनों मौज में थे और सुखी थे । सखी के लिये वह था कंदपं से भी कांतिमान; शिशु के लिये वह थी देवियों से भी देवीष्यमती ।

अपने छोटे से संसार में वे शक्ति और समृद्धि के सामी बने बैठे थे । वे जो कहते वह होता और जिस बिंदु पर लक्ष्य लगाते वहीं तीर लगता ।

विधि के इन लाइलों को जिंदगी रमणीयता के सत्त्व सदृश प्रतिक्रिया, चिर नवीन लगाती ।

इनको देखकर इनका जगत विस्मित होता इनके ललाट पर दुर्भाग्य की रेखा अब नहीं लिखी थी ।

पर इस निर्मल गगन में कभी कभी स्पष्ट गहन बंदली आ घिरती, और मौजीला जीवन असुचिकर हो जाता । कर्तव्य की कठिनता, तप की विशुद्धि, भावना के लिये तड़पती हुई उर्मि—पूर्वजन्म के संस्कार सदृश—इनके चित्र चंचल बना देती । सुख सिद्धि में है, तृप्ति में नहीं, इसकी उन्हें दिन दिन प्रतीति होने लगी ।

एक बार उन्होंने देखे, हजारों नरनारी—शांत समरांगण में झूमते हुए; वरों को स्वर्य कारागह बना कर राज्यमद को, चुनौती देते हुए ली हुई प्रतिशाओं की अड़िगता से रक्षा करते हुए, जीवन के मूल्य का परिवर्तन करते हुए । और देखी क्रूरकर्मी सत्ता, अकलिप्त और स्वार्थमय, असत्य को सत्य का नाम देती हुई । और दोनों हन प्राणवान प्रजाजनों के साथ जा खड़े हुए ।

एक दिन वे गये, अमरावती की सर्वांग में, और कैलाश के कल्याण दायित्व की विडंबना में सत्ताबीशों द्वारा स्थापित गिरिनगर में, और आर्यावर्त की लगाम हाय में लेकर, उसको नचाने में उद्यत सत्ता के मद में चूर प्रजागतियों को देखकर, उन्होंने पुण्यप्रकोप का आनुभव किया ।

गिरिनगर के आसपास, सत्ताओं को शान्ति देने के लिये लगाई हुई छक्काबजियों के नीचे फिरते हुए, उन्होंने दुख, अन्याय और दैन्य से सत्त्वहीन तथा अनाथ आर्यावर्त का आर्तस्वर मुना और अपने उल्लाट से परिचित हुए ।

शिशु ने पूछा, “सखी री ! क्या हम आनन्द उड़ाने के लिये ही पैदा हुए हैं ? और हमारा सर्व हुआ है क्या एक मात्र प्रणयनसिद्धि के स्वार्थ के लिये ? हमारा सहचर्य हुआ है क्या गान और तान में सीन होने

के लिये ? क्या जन्म जन्मांतरों तक तपश्चर्या के इस करण रोदन का विकार करने के लिये ?

सखी शिशु से चिपट गई : “मेरे प्रिय शिशु ! हमारा जीवन तो एक जीवित भावना है । एक दिन ऐसा आयेगा कि मैं तुम्हारे साथ एक महासंग्राम में संलग्न हो जाऊँगी । पर यह समय कब आयेगा ?”

“कब ?” शिशु ने भावी से गूँछा ।

सत्ता की शृंखला उनकी धमनियों का प्रवाह रोकने लगी और पराधीन जीवन की अधमता ने उनके आनन्द में विज्ञेप डाल दिया ।

एक बार वह सखी के साथ नगर के बाहर गया, और प्रणय ग्रन्थी की रक्षा करने वाले भगवान के दर्शन किये । वहाँ से जाकर हृदय के प्रवाह जहाँ मिले थे उस टीले पर, सागर तट के पास, दोनों बैठ गये । पीछे पुराने मित्र की तरह मन्दिर के भग्नावशेष छाया कर रहे थे ।

ऊपर गगनीर नीलाकाश था और सागर के उस पार गिरिश्रंग श्यामल मेंघों से अच्छादित थे । बूँद पर विहगों का कलरव हो रहा था, और छिपते हुए सूर्य की सुनहरी किरणें सागर जल पर पड़ रही थीं । एक अवर्णनीय तड़पन के बश हो उस युगल जोड़ी ने हाथ में हाथ पिरोये ।

“सखी ! संपूर्णता की शान्ति आज हमारी है” शिशु ने कहा । बाल-सखी ने हास्योन्मीलित नैऋत से जवाब दिया, “हाँ, शिशु !” विस्मरण में छिपे हुए संस्कार सजीव हुए, और उन्होंने प्रणय कथा की फिर पुनरा घृत की ।”

नयन से नयन को और हृदय से हृदय को दिये हुए निमन्त्रण याद किये और शुभ सरिता के किनारे पर दिये हुए वचनों को दोहराया । सागर की साढ़ी में उच्चारित मंत्रों को और हर्दरकुलम के शृंग पर उच्चारित अभिलाषा की खनि उन्होंने फिर सुनी ।

यूरोप के द्विसरण ताजे हुए और वर्तमान दूख से भावनाओं प्रवक्ष

हुई । कीर्ति धन और सुख के रंगों ने फिर हृदय रंग दिया, और भावी के निर्मल व्योम में, फैली हुई किरणावलियों का पंथ, आत्म संतोष से, देखा और उसकी प्रशंसा की ।

“विधाता ने हम पर बहुत कृपा की” सखी ने कहा । “शिशु ! सुखी तो हो न है” उसने कहा ।

“तुम्हारे संग सदा ही सुखी हूँ, पर तुसि का अंधकार न छाये तो ही ठीक” कहकर शिशु लिन नयनों से देखने लगा ।

जैसे अंधकार संसार को लिस कर रहा हो इस प्रकार गिरि शृंग पर अंधकार छा गया गगन की एक कोर में बादल गरजे और बिजली चमकी ; सागर के जल की लहरें बढ़ीं ; और दोनों के अन्तर में उत्सुकता प्रकट हुई ।

“सखी ! डर गई ?” उत्तर में “तुम्हारे साथ में भी डर !” कहकर सखी ने उसका हाथ दबाया ।

पर दोनों के हृदय में गर्जना की प्रतिध्वनि हुई ; दोनों हाथ में हाथ रखकर काँपे, भय और अभय का साथ-साथ अनुभव करना यही उनका जीवन मन्त्र था ।

उन्होंने खिसकना चाहा पर खिसक न सके ; और अनियेष नेत्रों से अंधकार निरखते रहे । पीछे से जैसे किसी ने आकर्षित किया हो इस प्रकार चौंक कर वे पीछे मुड़े ।...

जीर्ण^४ मन्दिर में तेजस्वी रेखा दिखाई दी ।

“वह क्या ? वह क्या ?” कहती हुई सखी शिशु के पास सिमिट गई ।

शिशु काँपा, “कहाँ, कहाँ, ? कुछ नहीं” देखो-देखो यह अंधकार दूर हुआ और कुछ निकला देलो ?

“यह तेज का बहु लाकार चक्र कैसा ?”

दोनों खड़े हो गये और निश्चेतन होकर देखने लगे । न तो वे

वहाँ से लिसक ही सके और न कुछ बौल ही सके। अंधकार में नवीन तेज चमकने लगा और गिरिश्रंग पर इन्द्र धनुष का छत्र सुशोभित हो गया।

शिशु और सखी स्तब्ध बनकर देखते रहे। पल भर में यह परिवर्तन कैसा? और जीर्ण मन्दिर के भग्नादार में से विद्युत से निर्मित सी, प्रचंड और तेजस्वी पर स्पष्ट आकृति बाहर निकली। आकृति किसी पुरुष की थी।

तेजोपुरुष अंधकार छोड़कर एक ओर आया और उसकी शरीर रेखा सुरेख और स्पष्ट दिखाई दी। वह आगे आ खड़ा हुआ, किसी पुरातन मुनि की प्रतिमा सदृश भव्य, वृद्ध और तेजोमय।

विशाल उसकी काया, व्याश्रचर्म से विभूषित, दंड सदृश सीधी और सुगठित थी; उसके हाथ में था दंड, और पैरों में थी पादुका; मुख के आस-पास, श्वेत लंबे केशों में तेज की राशि रची हुई थी; और उसकी आँखें, दो चन्द्रमाओं की तरह अमृत सिक्क थीं।

शिशु देखता रहा, “सखी, देख ! देख ! यह नरोत्तम ! बचपन में मैंने देखा था इतना याद है—पर कहाँ और कब यह याद नहीं। और जानता तो हूँ....पर कहाँ.....”

शिशु का वाक्य आधा ही रह गया और तेजो पुरुष धीमे-धीमे पास आया। उसकी मोहक मुसकान सोने की शृंखला की तरह उसको जकड़े रही।

“सखी री ! लेजा—मुझे लेजा। यह कोई ले जायगा मुझे?”
शिशु ने कहा।

सखी ने कहा, “नाथ ! दौड़ो, दौड़ो। इस जावूगर के जाल में फँस गये हो !”

पर दोनों हाथ में हाथ डाले खड़े ही रहे, दौड़ने का साहस भी उनमें नहीं आया। यह ले जायगा कहाँ? संसार का क्या? और

भोग-विलास का ! और साथ में स्वजनों का भी ! इस प्रकार के संकल्प विकल्पों से वे एक क़दम भी नहीं लिसक सके ।

तेजोपुरुष की हृषि दयासित्त हो गई और वह युगल बर-बधु को अमृत से अभिमंत्रित करने लगा, और दोनों एक अदृष्ट तार से उसकी ओर लिंच आये । उस महात्मा का दर्शन ब्रह्मदर्शन सदृश लोभ जनक पर आनन्दमय था । उसके ललाट की उज्ज्वल रेखा का गौरव उन्हें संभ्रमित करने लगा । अन्त में शिशु और सखी हँसे और उसे साष्टांग दंडबत कर उसकी पद रज सिर पर रखी ।

शिशु ने हाथ जोड़े, “तपोनिधि ! हम कृतार्थ हुये, आप के देवों को भी दुर्लभ दर्शनों से । सखी तो मूक वदन से देखती रही ! छी सुलभ विचक्षणता से, इस आकर्षक बृद्ध की आँख में, उसने आनन्दमय जीवन की संध्या देखा ।

अंत में वह बोली, “पूर्णपाद ! आज्ञा !”

तेजोपुरुष ने स्नेह भरे हाथ से उन्हें आशीर्वाद दिया, “आज्ञा ! तुमको आज्ञा ! मुझे छोड़ कर कहाँ चलो ? तुम तो सदा से मेरे थे और हो । जहाँ तुम वहाँ मैं”

शिशु ने सिर हिलाया, “मैं और मेरी सखी, दोनों ही अपने लिये ब्रह्मा और सावित्री । हमारी शक्ति यही हमारी जीवन विधात्री, आप का तो एक मात्र आशीर्वाद हमारे साथ होना चाहिये ।”

तेजोपुरुष फिर हँसे, “मेरे बालकों मुझे नहीं पहचानते ! शिशु ! जब तेरे भाग्य का सूजन दुआ तभी से मेरे आदर्शों का सूजन दुआ ।”

हाथ जोड़ कर शिशु बोला “नहीं, नहीं, पुरातन पुरुष ! मैं तो आज का बालक और आप उद्दरे वृद्ध; यह विनोद क्या आप के मुँह से आच्छा लगता है ?”

तेजोपुरुष हँसा: “तू मेरे जैसा ही वृद्ध है और मैं तेरे जैसा ही

बालक हूँ युगों का वार्षक्य, और उछलती हुई जवानी—दोनों के संगम—हम दोनों।

शिशु निश्चर रह गया, “पर आप कौन ?”

विशाल चक्षुओं की प्रसन्नता से दोनों को विहृल कर उस तेजोपुरुष ने मीठे बचन कहे। “तात ! नहीं पहचाना मुझे ? मैं तुझे वर्धे पहले मिला था। अधखुली आँखों से तू माँ के मुँह से रेणुका नंदवर्धन की कथा सुन रहा था तब। तेरा हृदय तब आयों के शत्रुओं का संहार करने के लिये उत्सुक था, तब तूने मुझको देखा था।”

यज्ञोपवीत धारण कर, दंडकमंडल हाथ में लेकर, बाल शुकदेव की तरह तू “भवति भिशादेहि” कह कर घर गुँजा देता था तब अपनी छाया में मेरी भी छाया तूने देखी थी वह भूल गया क्या मेरे बीर ?

और विश्वामित्र तथा वसिष्ठ के आदर्शों से किसने तुझे परिचित कराया ? और और्व के महाविनाशन कोध का तथा कौटिल्य के परम प्रभाव का किसने परिचय दिया ? किसने गीतामृत विलाया ? और किसने दी तुझे भगवान पतंजलि की सूक्ष्मसूक्ष्मदि ? अपनी एकांत पर्णकुटी में उस दिन तू बैठा था और चूँहों के पत्र समूह में नैमित्यारण्य की शान्ति और शुद्धि देख रहा था, तब तेरे पास किसने चिन्तित की दैप्यायन की भव्य सुख-रेखा ? अब भी नहीं पहचाना, मेरे लाल ?

“आनन्दस्य जीवन में असंतुष्ट कैसे हुआ बैभव में भी विद्या की शुद्धि की किसने रखा की ? स्थूल विलास भोगने पर भी क्यों नहीं अच्छे लगे ? विदेशी बेशभूष। अपनायी पर मृगचर्म को क्यों नहीं भूला ? किस लिये और किसके लिये ?”

“राज्यसत्ता का आदर मिला, पर वह भी न भादा जहाँ बड़े आदमी स्वमान का प्रदर्शन करते वहाँ तूने पलपल किस प्रकार स्वमान भंग का अनुभव किया ? और पारतींच के मीठे फल क्यों सदा कड़के लगे ?”

“‘और बच्ची !’” वह सखी की ओर सुड़ा, “तेरे वैभव भरे बचपन में, जब तुम्हारे धन-प्रेमी भाई-बहिन धन की पूजा करते तब तुम्हें आदशों की पुजारिन किसने बनाया ? जब आदशों को खो कर तू सुख और शान्ति प्राप्त करती, जब यहिणी बनकर तू सुख से रोटियाँ खाती, तब किसने तुम्हें अडिग रहना सिखाया और किसने बताया तप का कठिन मार्ग ? जब स्वत्व विनष्ट होता और साधारण की रक्षा होती तब किसने अधिकार पूर्वक अपनायी कठिन और मँहगी तपरया ?”

“‘और तुम्हें किसने प्रेरणा दी इस भावना विभोर-ब्राह्मण की मोहिनी की ? और दृपद-तनया के दर्शन कर, उल्लंत सी इसकी चका-चौंध मेलने की किसने दी हिमत ! शिशु की सखी ! इसके साथ रहकर कंथाफोली स्वीकार करने की प्रतिक्षा की प्रेरणा किसने दी ?’”

“‘और प्रणय के विलासनान के बदले वसिष्ठ-आरुन्धती के भव्य एक्य का स्मरण तूने किया, वह किसके लिये ?’”

“‘तात ! यह सब मेरी प्रेरणा से हुआ जहाँ जहाँ तुम विचरण करते थे वहीं तुम्हारे साथ मैं भी विचरण करता था। अब कहा जाऊँ ?’”

तेजोपुरुष अलोप हो गया। एक मात्र बातावरण गांभीर्य दुःसह बन गया; और एक अकलित उत्साह से उनके हृदय धड़कने लगे। दोनों ने एक दूसरे की ओर देखा, काँ पै और पीछे सुड़े। वे घर गये तो, पर जैसे वे पहले थे वैसे फिर नहीं हो सके। इस पलभर के दर्शन को भुलाने के लिये शिशु ने प्रथल किया; पर जहाँ भी वह जाता वहीं छाया की तरह तेजोपुरुष उसके साथ साथ जाता।

जब शिशु ने न्याय के विशाल मंदिर में पैर रखा तब उसके पास तेजोपुरुष भी आ लगा हुआ और उसने अवाकू प्रश्न किया: “चाल, यह मंदिर पहचाना ?”

शिशु ने उत्तर दिया, “यह तो न्याय का मंदिर, मेरी नित्य पूजा का अनुपम धाम ठहरा !”

छाया ने क्रूर हास्य से उसका हृदय कँपा डाला, “यह न्याय का मंदिर कहा जाता है पर इसमें देखा है न्याय ? या सत्य की अविरत सेवा ? या मोंदर की परम विशुद्धि ? ये मंदिर की मूर्तियाँ तो देख। न्याय की तुला कितनों के हाथ में तूने देखी ? कितनों की आँख में देखा अपन्हापत का पर्दा ?”

“बाल ! इस मंदिर में किसी ने जगत-विशुद्ध रहने की और रखने की हिम्मत नहीं की। रास्ता चलता हुआ कोई न लुट न जाय इसलिये धन बटोरने का यह परमधाम है। यहाँ न्याय मिलना केवल भ्रम है यहाँ सत्ताधीशों या धनाढ़ीों के सिवाय कोई जीतता सुना है ? पहले ऐसे पुरुष, हत्यारों को धन देकर दुश्मनों को मरवाते हैं, यहाँ इसी काम के लिये बकील बैरिस्टरों को धन देते हैं। केवल अंतर इतना ही है कि हत्यारे मृत्यु की शांति देते हैं, पर बकील बैरिस्टर देते हैं मृत्यु से भी भयानक, दारिद्र्य की कठिन तपस्या !”

“इस मंदिर के महासिद्धांत समझते हो ! जो किसी गर्विष्ठ बड़े बकील को करे वह बढ़ा; बहुत से बकीलों को करे वह सत्यवादी; धन की रेलपेत करे वह हमेशा निर्दोष !”

“यहाँ तो रात दिन धन-सागर का मंथन चलता रहता है, और बहुत सों के धन-भंडार यही क्रमशः लूटे जाते हैं यहीं धनाढ़ी-भिखारी और भिलारी धनाढ़ी होते हैं। मरी हुओं की मिलकियत यहीं बेची जाती है, उसमें से बकील बैरिस्टरों के महल बनते हैं; और मालिक के बच्चे रास्ते रास्ते की ठोकरें साते हैं।”

यहीं मनु और याज्ञवल्क्य परदेशी दृष्टि से बैचे जाते हैं; और प्रतिष्ठा पाते हैं एक मात्र परसंस्कार के लिये व्यर्थ का प्रयास करने वाले।

“बालक ! यह तो प्राणधातक पारतंज्य-देवी का महामंदिर है।”

शिशु ने लचित होकर तिर सुक्ता दिया, “यह क्या कह रहे हो ? तब मैं क्या करूँ ?”

छाया ने प्रत्युत्तर दिया “यह पारतन्त्र की पूजा छोड़ । न्याय-मंदिर तो वह कहा जाता है जहाँ न्याय मिले—जहाँ न्याय की मूर्ति स्थापित हो, रफटिक सी शुद्ध, जहाँ उसके चक्षु हों अचल विवेक के ।”

“शिशु ! जिस तुला में धन होता है उससे न्याय नहीं तोला जा सकता । यदि शक्ति और साथ में विवेक हो, तो किसी सागर तट पर किसी वटवृक्ष की छाया के नीचे, स्थापित कर एक न्याय मंदिर, पहले जैसे स्थापित किया था योगीश्वर याज्ञवल्क्य ने उसी प्रकार । पैसे की लालसा छोड़ ; प्रतिष्ठा की भूख त्याग और खोज तथा स्थापित कर—अविचल और समदृष्टि-सत्य ।”

और खिज्ज इदय से सोने जाते हुए, शिशु की आँखें जैसी थी जैसे ही खुली रहीं जिसको इसने पुण्यधाम समझा था वहाँ पैसे बाले पुण्य की हत्या करते हुए दिखाई दिये ।

दूसरे दिन शिशु घराकर बाहर निकल चला, पर जहाँ भी वह जाता, वहीं उसके पीछे उसकी अभिवृद्ध परद्धाई की तरह तेजोपुरुष को प्रचंड काया दिखाई देती ।

एक पाषाण कीर्ति स्तंभ, गगन को छूता ।

“कहाँ जा रहा है शिशु ?” छाया ने पूछा ।

“मैं जा रहा हूँ विद्या के इस महा मंदिर में इस स्तंभ की प्रौढ़ छाया में भावी प्रजा के संस्कार घड़े जाते हैं । मैंने वहाँ आपनाये हैं बहुत से प्रयोग और आदर्शों के अभिनव निर्माण ।”

तेजोपुरुष खिलखिला कर हँसा ? “भूल गया, शिशु ! तूने प्रथल तो बहुत किये पर फल क्या मिला ? संस्कार यह तो आत्मा की गंध है यह पूर्वजों के पुण्य से फैलती है और आत्मस्थागियों द्वारा आपनायी जाती है ।”

“जो विदेशियों से बनाया गया है क्या वह संस्कार हो सकता है ? और पराधीन मनुष्यों के लिये आत्मा जैसी दूसरी वस्तु कौन सी ? लोभी, लालची, परसंस्कारमुग्ध आध्यापक जहाँ एकत्रित हो वहाँ हो सकता है आत्मत्याग का आदर्श रूप ? यह तो परसंस्कारों का कीर्ति-मंदिर है और है आत्मसंस्कारों की विन्देश भूमि ; और दूसरों द्वारा गढ़ा हुआ प्राण का पिंजरा !”

“स्वातंत्र्य और संस्कार ये दो सनातन सहचर, कभी किसी से अलग किये जा सके हैं क्या ? विद्यामन्दिर होना चाहिये राष्ट्र का हृदय और इसके प्रेरक होने चाहिये राष्ट्र मंत्र के दृष्टा । इस मंत्र का दर्शन कर ; तू भावी आदर्श बनायेगा । स्वातंत्र्य प्राप्त कर ; साथ ही संस्कार भी जन्म लेंगे ।”

और एक दिन शिशु गया राजन्सभा में, जहाँ राजमंत्रीश्वर और महाजन, शासन सूत्रों का निर्माण करते थे । खिल्ह-हृदयी शिशु वहाँ गया—और लौट आया, उसके पीछे तेजोपुरुष की परिचित छाया पड़ रही थी और उसके कान में थी उसकी तिरस्कार भरी हास्यध्वनि ।

शिशु सहमा, “तुझ महातेजस्वी जैसे तेजोपुरुष की छाया है तो सही ; पर यह किस लिये समस्त जगत का उपहास करती प्रतीत होती है ?”

छाया स्नेह से कहने लगी, “शिशु ! तू यहाँ इस पारतंत्र्य के मन्दिर में निर्बल को डराने का सबल को ललचाने का, स्वच्छुदाचार को सोकमत का रूप देने का स्वातंत्र्य के बहाने स्वाधीनता की हत्या करने का, राजमदांबों का यह एक सभा मंडप है ।”

“मूर्ख ! यह तो मत का माणिक चौक है जहाँ खड़े होकर अपने मत बेचे जाते हैं और बैठे-बैठे स्वार्थसिद्धि की जाती है । यहाँ से निकलते हैं जगत को हड्डप कर जाने वाले राज्ञस सहशा शासन सूत्र । यहाँ होता है, एक ही भ्रम का निर्माण—परशासन ही है वास्तविक आत्मशासन ।

और शिशु ने देखे—अधिकार उन्मत्त सत्ताधीशों के चरणों में पहुँचकर अपना सम्मान प्रदर्शित करने वाले महाजन ; उनकी ओर से हिलने-हुलने वाले स्वातंत्र्य विलासी ; उनकी प्रसन्नता के लिये एक दूसरे का विनाश करने वाले स्वार्थपरायण भिक्षुक ; उनकी दया के लिये देश के साथ विश्वासघात करने वाले आडगबरी देशभक्त । और इन सब में एक भी दिखाई न दिया, आत्म गौरव या राष्ट्र गौरव का ध्वजाधारी ।

तेजोपुरुष ने पूछा, “इन चौकीदारों के सम्मेलन में तेरा स्थान ? शिशु ! तुझे अच्छी लगती है यह सोनेमढ़ी पारतंत्र शृंखला या अच्छी लगती है स्वाधीनता की उज्ज्वल स्वतंत्रता ? इससे तो बनवास की स्वतंत्रता अच्छी ; और उससे भी और अधिक गौरवमद है कारावास की परवशता । जहाँ आत्म निर्णय का अधिकार नहीं वहाँ राजतंत्र कैसा ?”

और भग्न-हृदय शिशु, अधमता का आस्थाद लेते हुए दौड़ा ;—
रोता हुआ : दासों के देव मन्दिर में वैर रखना, यह तो पाप है ।

शिशु जाकर सखी से मिला “सखीरी ! आज तेजोपुरुष की परछाईं मेरे पीछे-पीछे गईं और अनेकानेक दर्शन कराये ; और जहाँ भी हृष्टि डाली वहीं सुझे दुःसह और दार्खण पारतंत्र दिखाई दिया ।”

“मेरे शिशु ! आज सुझे भी दिखाई देता है कुछ का कुछ ; और हृदय में बसी है धोर अशांति । चल, किसी विलास-स्थान पर चलें ।”

वे गये और बैठ गये आनन्दमग्न नर-नारियों के प्रिय एक रमणीय स्थल में । हास्य और बिनोद, कृत्य और संगीत, तथा खान और पान वहाँ चल रहे थे ।

वे बैठे और सामने एक आसन पर शिशु ने देखा दंडक-भगदल धारी तेजोपुरुष...“यह वहाँ भी !” उसने आँखें मलाँ पर आसन खाली दिखाई दिया ।

उसने चारों ओर हृष्टि डाली तो दिखाई दिया ।

बुद्धिमत्त में भोले भाले आदमियों को कँसाते हुए, धन वैभव के

कूर पुजारी ; नाना मत्स्यों के आखंड आहार से मरत, बाजारों के मोटे मगर मच्छ ; दूषण विशारद, खान पान और बनिता हीं जिनका सर्वस्व है वे, वीभत्स रसनिपुण अकड़ साँ ; हृदय है जिनकी अंधेर कोठरी, आदर्श और संस्कार से विमुख, आत्मशलाधा में व्यस्त प्रतिष्ठा-मूर्तियाँ; रंगीले वस्त्र और रंगे हुए बदन से संसार को भ्रमित करती हुई, नये-नये खेलों पर पतंग सदृश उड़ती हुई लटक और चटक में मत्स नखरे वाली स्त्रियाँ।

और इन सब को, विदेशी रहन-सहन और रीति से, हृदय की शृंखला और आदर्श का अंधकार, मद्य के सागर में डुबाते हुए देखा।

उनका घैर्य जाता रहा और दुख से उद्विग्न शिशु और सखी वह स्थान छोड़कर वापिस लौट आये।

११

दोनों अपने मन्दिर में आये और प्रसन्नता से बैठ गये, अपने हृदय के परिवर्तनों पर विचार करते हुए। दोनों के हृदय धड़के और उन्होंने ऊपर देखा। द्वार पर तेजोपुरुष की भव्य मूर्ति खड़ी थी।

शिशु ने हाथ जोड़े, “भगवान ! तुमने यह क्या करना आरंभ कर दिया है ? हमारे जीवन का सौंदर्य किस लिये नष्ट कर रहे हो ?”

तेजोपुरुष ऊचे स्वर से हँसा, “आदर्श विहीन के पास कभी सौंदर्य के दर्शन हुए हैं ?”

शिशु ने हाथ जोड़ कर कहा, “कृपा करो देव ! हमारी काया सुकुमार है, शीत और ग्रीष्म के आवात हमने नहीं सहे और न हमारी सहने की शक्ति ही है। हम धनी हैं और सुखी भी हैं; हम जैसे हैं वैसे ही हमें रहने दो !”

शिशु के शब्द सुनकर वह दया भीनी दृष्टि से हँसा, “बालकों मेरे साथ बाहर आओ धनोपार्जन और धनव्यय की भयंकर प्रणाली छोड़ो । धन ने किसी का उद्धार नहीं किया बल्कि अनेकों वो हुआवा ही है ।”

“पर प्रभो !” शिशु ने कहा ? “हम धन-संचय की प्रणाली समझे नहीं । दान भोग और नाश ऐसे त्रिविध धन के मार्गों में से हम तो केवल दान और भोग के मार्गों से ही परिचित हैं । हमें देना है और भोगना है—फिर क्या ?”

गदूगदू करठ से शिशु को इस प्रकार बोलते हुए सुनकर तेजोपुरुष ने शिशु की कमर पर हाथ रखा—

“बालक ! धन और आदर्श^१ दोनों को किसी ने साथ-साथ रखा है । धन के आने पर ही मनुष्य आदर्श-द्वार की खोज करता है धन आया और तूने देश भक्ति छोड़ी; धन आया; और तूने सर्जकता की मूल जैसा तीव्र संयोग खो दिया; धन आया और तूने सेवा-नर्म भी भुला दिया ।

“धन के बाद प्रतिष्ठा आयी; इस प्रतिष्ठा के संरक्षण के लिये कितने-कितने पार्थिवता के लेप तूने आत्मा पर चढ़ाये । इस प्रतिष्ठा के संरक्षण के लिये तूने धनोपार्जन की कितनी धून लगायी ! और रक्षा के लिये क्या-क्या किया, और क्या-क्या नहीं किया । तूने बचपन के ब्रत छोड़ दिये; आनंद विलाप का सेवन किया, और अपना सिर अनाधि-कारियों के आगे झुकाया । तूने योग-भ्यास छोड़ा; और ब्राह्मणत्व की भावना छोड़ी; और तूने भुला दिये अपने पूर्वजों के आदर्श^२, और साथ में मुझे भी ।

“आदर्श विहीन, धन विहूल, तू नहीं रहा अपना, सन्तान या माता का, या अपनी मातृ-भूमि का । दूसरे की स्त्री के साथ जीमते हुए और उसको जिमाते हुए, तू नहीं रहा अपनी सखी का और नहीं रहा अपनी अधिभक्त आत्मा का ।”

“मूर्ख ! सावधान हो जा । धन के ढेर में प्रणय का सूख्म प्राण
झुँटने पर भी नहीं मिलेगा । पाँच वर्ष में लक्ष्मी, सदैव रहने वाली
शृङ्खला पैरों में डाल देगी और तेरी उम्र ऐसे ही व्यतीत हो जायेगी,
रची हुई पुस्तकों को सोने से मढ़ने में तथा पुत्र पुत्रियों को धन प्रेमी
बनाने में ।

फिर तू और तेरी सखी, आनंद विलास और आत्मसुन्तोष में सूझ,
जर्जरित गुड़िया की तरह, पास आते हुए यम का सामना करने में
अशक्त, जगह-जगह छिपते फिरोगे । और जब मर जाओगे तब छोड़
जाओगे, लक्ष्मी के फंदों में कैसे हुए सूँदों की कलंकित कीतिं, और साथ
में धन विमाण में व्यस्त, परस्पर द्वेष में लगी हुई तथा अभिशाप देती
हुई सन्तान ।

“लक्ष्मी के पीछे भ्रमण करने वाले सदा ही भयन्तर स्त रहते हैं; तो
लक्ष्मी जिसके पीछे पड़े उसके महाभय का क्या पूछना ?

“बालको ! यह सागर-कन्या जिसको अपना बना लेती है उसको
यह पागल की मौत मारती है । तुम इसके जाल में मत पड़ो; भय
जाओ । आती हुई लक्ष्मी को लात मारने वाला कोई ही विरला
आयी है ।

“लक्ष्मी और सरस्वती साथ-साथ रहती हैं यह कहावत तो लालची
कवियों ने मूर्ख धनियों की उदारता उत्सेजित करने के लिये जोड़ निकाली
है । लक्ष्मी का जहाँ पद सञ्चार होता है वहाँ श्वेतांबरधारिणी पल भर
को भी नहीं टिकती ।

“बालको ! मेरे लिये, लक्ष्मी के सब बंधन त्याग दो । मुक्त ननो ।
आदर्श ही ज्ञानिवाल की समृद्धि है । तुमको तो मिली है लक्ष्मी जो कभी
भी नहीं दे सकती तुम्हारे पूर्वजों का महाधन । तुम चलो मेरे साथ
आपरिग्रह ग्रहण करो, धनियों में भी तुम धनिक हो ।”

शिशु और सखी ने अधीरता से एक दूसरे की ओर देखा। “क्या सोचते हो ?” तेजोपुरुष ने पूछा।

सखी ने प्रत्युत्तर दिया, “मेरा और मेरे नाथ का शरीर नहीं बना तप की कठोरता के लिये। हम सुकुमार, औषधि निर्मित हमारी देह परिचर्या से पोषित और धन-सुलभ सुघड़ता में सँवारी हुई।

“जन्म से ही मैंने नहीं देखा किसी तरह का सुख और दुःख, तपस्वी ! अंग सौषधव की कारीगरी के बिना हमारा जीवित रहना भी कठिन है। हम तो एक मात्र वसन्त के विहग हैं हरियाली के बिना तड़प रहे हैं।”

यह सुनकर तेजोपुरुष ने सखी की आँख से, कृपामय-दृष्टि सहित आँखूं पोछे। “भूल गई, बाले ! शिशु ने जो कहा था वह कि देह तो दिव्यता का मन्दिर है ! यह दिव्यता का मन्दिर हुआ कैसे ? बाले ! यह मन्दिर देव के लिए है। यह दिव्य है इस देव के अस्तित्व से।

बोई मन्दिर बनवाता है कारीगर के कौशल प्रदर्शन के लिये, उसकी शोभा से देवता मोहक तो अवश्य बन जाता है पर वह मन्दिर देवता का नहीं कारीगर का होता है। इसमें तो देवता सङ्कट रहता है—मन्दिर रचना के बहाने से। इससे कारीगर के गर्व को सन्तुष्टि मिलती है पर देवता की दिव्यता नहीं बढ़ती।

“वास्तविक मन्दिर तो निराले होते हैं देवता के परम धाम। उनके तेज के उद्गम सदृश ।”

“बालकों ! तुम्हारे शरीर हैं कारीगर के मन्दिर। तुम इन शरीरों को सुन्दर रखने के लिये भोजन करते हो, इनकी शोभा बढ़ाने के लिये शृङ्खल करते हो यह दूढ़ न पड़ें इस भय से उपचार द्वारा इनकी रक्षा करते हो। संसार की आँख को आकर्षित करने के लिए, बाल सँबार कर तुम सुन्दर बनते हो। यह मन्दिर तुमने बनाया है एक मात्र मन्दिर निर्माण के लिये, वास्तविक अर्थ में यह मन्दिर नहीं।”

“देह मोहनी में पागल तुम सौंदर्य का संग्रह करते हो इसके आक-

र्घण की रक्षा करने के लिये, रात और दिन धूमते फिरते हो नई नई सामग्री का संग्रह करने के लिये, इसकी रक्षा के लिये आत्मा पर जुआ रखकर भी उसे कोल्हू में पेरने के लिये तैयार रहते हो ।

“देह के लिये आत्मा या आत्मा के लिये देह ? तुम्हारी यह देह आत्मा का मन्दिर नहीं, अभिमान को सन्तुष्ट करने का खिलौना है, धन वैभव का विज्ञापन है ।

“देवता के लिये जिसका निर्माण हुआ हो और देवता की शोभा से जो सुशोभित हो वह मन्दिर ; देवता के सौंदर्य के अनुरूप देह वह जो आत्मा की आशा का पालन करे, आत्मा का आविर्भाव साथे आत्मा के रूप-रंग से सुशोभित हो । आदर्श-सिद्धि के लिये जो आत्मा का वज्र बने वह देह ।

“जिसके लिये आत्मा का उल्लास रोकना पड़े, आदर्श^१ की सिद्धि त्यागनी पड़े, यह मन्दिर नहीं पर कारावास है । जिसके लिये पूर्वजों का मन्त्र-भुला देना पड़े वह मन्दिर नहीं—वह तो आत्मा का वध-स्थान है ।”

“आदर्श^१ ही शासक हैं, देह तो दास है । जो आत्मा की आशा का पालन न करे और जो आदर्श का विकास रोक दे ऐसी देह का तो विनाश हो ही जाना चाहिये ।

“दधीचि ने अपनी देह का वज्र बनवाया और देवों की रक्षा की । उठो यालकों ! और शङ्का छोड़ दो । तप ही अग्नि है । इसमें अपने इन वज्रों को तपाओ उठो और हो जाश्रो तत्पर । आदर्श का आधिपत्य स्थापित करो इस अपनी देह पर । हाथ में लो अपने वज्र । उखाड़ो, निर्माण करो, और विश्व विजय करो । यह न उखाड़ा जा सके या न उपर्योग में लाया जा सके तो अपना स्वाभित्व सिद्ध करो, इसे तोड़कर चूर चूर कर डालो ।”

शिशु और सखी स्तब्ध बन गये और नीरवता से देखने लगे । “क्या सोचते हो ?” तेजोपुरुष ने पूछा ।

“क्या करें ! कुछ सूझता नहीं । मार्ग बताओ दव !” शिशु रुका ।

तेजो-पुरुष ने आश्वासन दिया, “स्वस्थ हो जाओ सब सूझने लगेगा ।”

“पर भगवन्” सखी ने हाथ जोड़े, “आप कौन हैं ? कहो तो ।”

“वत्स !” वह तेजोपुज्जा बोला, “अभी मुझे नहीं पहचाना ? सब सिद्धों ने मेरे साथ और मेरा भजन कर सिद्धि प्राप्त की है ।

“वशिष्ठ की विशुद्धि और जामदग्न्य का युद्धोत्साह; और्ब का सर्वपक्षी कोप और व्याप की संस्कार समृद्धि; रामचन्द्र की आदर्श मयता और कृष्ण की परम विभूति, पाणिनी की शब्द-सिद्धि और शाक्य सिंह की निःसीम करुणा; काटिल्य की व्यवस्था-वृत्ति और मनुष्याश्रवलक्ष्य की घटना-सक्ति; समुद्रगुप्त की विजय-महेन्द्रजा और कालिदास की रससिद्धि-सर्जकता, शङ्कर की सर्वसर्वशी बुद्धि और गौरांग का भक्ति-माधुर्य, प्रताप का देशप्रेम और शिवाजी की स्वधर्म-सक्ति, दयानंद का उग्र प्रताप और रामकृष्ण की वैराग्य-सिद्धि, अरविंद की राष्ट्रीयता और सत्य मोहन की जाग्वल्यमान अद्वितीय : यह सब मैं हूँ ।

“जिस प्रकार प्रताप एकमात्र सविता की किरणों में से प्रकट होता है उसी प्रकार तपोसिद्ध आर्य-गौरव मेरी प्रेरणा से प्रकट होता है ।

“तेरे सब पूर्वज सुभ में समाये हैं, और उसी प्रकार समाये हैं तेरे सब अनुज भी । युग युग के ये आदर्श मेरे एक और अनंत व्यक्तित्व की एक मात्र चिंगारियाँ हैं । मेरे लिये यह भूमि है आमर और आतुल, खंड, खंड और युग, युग में ।”

शिशु और सखी ने प्रणिपात किया, “कहो कहो, भगवान् ! आप कौन हैं ?”

“मैं हूँ इस आर्यवर्ल का भूत, वर्तमान और भविष्य का प्राण । मैं हूँ दुम्हारे पूर्वजों की भावना; उनके ब्रह्मावते की आत्मा—विराट और शाश्वत, पहले हसकी बेदि में होम किया जिसने, वह यज्ञ-पुरुष ।”

अवाक् शिशु ने बड़ी कठिनता से वाणी निकालने का साहस किया । “यज्ञपुरुष आर्थात् ?”

“तेजो-पुरुष की विजय टंकार सदृश वाणी प्रस्तुवित होती रही : “जहाँ यज्ञ को कोई नहीं जानता वहाँ यज्ञ-पुरुष कैसे जाना जाय ? यज्ञ की मीमांसावाँ रची गई है अन घड़ों के हाथ से । बहुतों ने यज्ञ किये हैं घोड़े बकरे और मनुष्यों के, बहुतसों ने समझाये हैं उनके रहस्य । पर हाङ्गचाम के यज्ञों से कहीं पुण्य हो सकता है ।

‘बत्तों ! सुनो—धन होमे वह यज्ञ करे समय और शक्ति होमे वह भी यज्ञ करे, पर सर्वस्व होमे दिना वास्तविक यज्ञ कभी नहीं हो सकता । सर्वस्व होमे वही यजमान और वास्तविक स्वता ।

“कितने ही कवियों ने होमा सर्वस्व और सृजन किया अमर साहित्य का । कितने ही वीरों ने होमा सर्वस्व और सृजन किया तथा बनाये रखले राष्ट्र । वीर बांरांगनाओं के होम दिना न तो युद्धों में विजय हुई और न हुई राष्ट्रस्वातंत्र्य की रक्षा । जब तक सर्वस्व होम नहीं हो तब तक सृष्टि नव-पत्तनवित नहीं हो सकती । होम दिना सिद्धि नहीं । पर सर्वस्व केवदले जब से आर्यों ने धी का होम आरंभ किया तब से आर्यों की सजंन शक्ति संकुचित हो गई ।

“सुनो जगत की आद्य कथा, नारायण ऋषि द्वारा वेद में संग्रहीत :—

“पुरुष पहले था, सहस्र शिर धाला तथा सहस्राह और उसके थे सहस्र पाद ।

“विश्व को वह व्याप्त कर रहा था और फिर भी वह दस अंगुल बड़ा था । भूत और भवित्व सब उसमें था और अमृतस्व का था वह ईर्षा ।

देवों और सिद्धों ने यज्ञ आरंभ किया और ऋषुओं की समग्री की, और उस पुरुष को बनाया हुवि ।

“यह पुरुष यज्ञ में होमा गया और उसकी सृष्टि बनी। और इसमें से प्रकट हुए, पशु और पक्षी, शृंख और साम, यजुस् और मंत्र तथा समस्त चारों वर्णों, चंद्र, सूर्य, और देव, पृथ्वी, व्योम और सर्वलोक। और पुराण रूप में ऋषि नारायण सनातन ने सत्य का उच्चारण किया है यज्ञ बिना महिमा नहीं, यज्ञ निना नव-सृजन नहीं, और यज्ञ बिना दिक्ती नहीं सृष्टि—अल्प या विशाल।

“यह मूल है यज्ञ पुरुष और इसी प्रकार दूसरे बहुत। वसिष्ठ से लेकर मोहन दास तक की यज्ञ पुरुषों की अस्खलित परंपरा ब्रह्मावर्त की चेदि पर होमी गई है।

“इनमें से प्रत्येक या बत्तीस लक्षणों से युक्त। प्रत्येक को थी संसार की अभिलाषा फिर भी प्रत्येक ने यज्ञ की ज्वाला में बलि दी: सर्वरब जलाकर भस्म कर दिया, पर सृजन किया ब्रह्मावर्त का और संरक्षण किया ब्रह्मावर्त का।

“इन सब हुतात्माओं से निर्मित, आर्यावर्त के प्रत्येक आदर्श में व्याप्त, विराट यज्ञ पुरुष मैं हूँ। मेरे तेज से यह पुरातन पुण्य भूमि अमर है।”

और दोनों ने अशुपूर्ण नयनों से लिर नमाया।

“बालकों। विचार मत करो, होम के लिये जाते समय सोच विचार की कोई आवश्यकता नहीं। तुम हो धनी, कुदुम्बी, सुखी और मोहम्मी तुम्हारी हवि तो सुन्दर ही रहेगी। जैसी हवि सरस होगी वैसी ही सरस होगी उसकी सर्जना। किस लिये विलंब करते हों? होता है, और हंधन है और साथ में सामग्री भी है।

“शिशु! सखी! मानवता के दर्शन, करने हैं? ब्रह्मण् अमर रखना है? आदर्श सिद्ध करने हैं? नवीन साहित्य सृजन करना है? अपने आर्यावर्त की शक्ति तथा सुक्ति प्राप्त करनी है? और उद्धार करना है पितरों का? तो क्या सोच विचार करते हों?

“बोलो ! यह वैश्वानर भड़की यह चली उसकी ज्वाला आकाश की ओर । देखो, देखो, उसमें दिखाई दे रहे हैं हत पूर्वजों के पुण्य कान्ति-मूल.....सिद्ध, अष्टधि और पूर्वज ये खड़—तुमको होमने के लिये तैयार तुम्हारा सत्कार करने के लिये आतुर ।

“बालकों ! एक ही कदम बाकी रह गया है : एक ही संकल्प । जलकर भस्म हो जाओ; प्रगटो यज्ञ पुरुष बनकर । आओ और मेरा रूप बन जाओ ।”

प्राणदाता के आगमन पर जिस प्रकार दासानुदास के सिर झुक जाते हैं उसी प्रकार एक अपरिचित नम्रत्व भार से उनके सिर झुक गये । समस्त भवन में चंदन बन का परिमल फैल गया जैसे मलयानिल की लहरें आ रही हों ।

दोनों ने गहरा श्वास लिया, और दोनों सृष्टि का भान भूल गये.....जैसे नव चेतना का सा प्रभात हो गया हो । मीठे शान्त प्रकाश से अंधकार के पट उच्छ्वल हो गये । दोनों बैठ गये जैसे चेतना विहीन और एक अमूल्य आशा का उनके अंतर में संचार हुआ ।

उन्होंने ऊपर देखा—सन्मान भार से दीन बन कर । भवन के स्थष्ट नीले प्रकाश में, पूर्ण वह पुरातन पुरुष खड़ा था । प्रफुल्ल नयनों से चेतना का प्रसार करता हुआ । सनातन ज्ञान की रेखा-वली और शताद्वियों की श्रानुभव-गम्भीरता उसके विशाल भाल पर थी । और उस पर थी तप की विशुद्धि और भावना की सिद्धि की भव्यता पर वह खड़ा था “पादुका पर.....दंड पर टिके हुए” उनकी ओर देखते हुए.....“शंकर सहशर कल्याण का विस्तार करते हुए ।

शिशु ने अतिथि को पहचाना : गुरुओं का गुरु—जिसने तप किया समस्त जगत का उद्धार करने के लिये, जिसने बाणी का प्रसार किया समस्त जगत के जीवन के लिये, जो जीवित रहा जगत को संस्कार

संजीवनी सिखाने के लिये—वह आर्य संस्कृति का दृष्टा-भगवान् द्वैपायन उनके सामने खड़ा था ।

शिशु ने सखी का हाथ पकड़ कर प्रणिपात किया । हर्ष के आँसू उनकी आँख से बहे । उसने गद्गद व्यंग से प्रार्थना की—

“भगवान् ! आओ, प्रेरणा दो, मेरा उद्धार करो ।”

शिशु ने अर्ध दिया और एक ध्यान हो कर वह सुनता रहा ।— और गगन में प्रतिष्ठित शब्द दिशाओं में गूँजता रहा ।

“बालक ! भावनामय बन, और कर्म कर ।”

शिशु जैसे नशा चढ़ा हो, ऐसे नयनों से देखता रहा । उसने अपने को देखा—तो गुरु का तेज दृष्टिगोचर हुआ संसार देखा—तो उसमें भी गुरु भव्यता का अस्तित्व था ।

वह लथ हो गया, महाभावना में । प्रेरणा से उन्मत्त वह गुरु की स्वर-प्रतिष्ठिति सुनता रहा :

“मैं ही सत्य हूँ ।”

“मैं ही तप हूँ ।”

“और मैं ही हूँ आर्योवर्त की अमर भावना ।”

वे अवाकू रह गये । बैठ गये और चारों ओर आंचकार फैल गया ।

समय बीत गया । उनके भवन में दीपक के प्रकाश में शिशु और सखी बैठे थे । उन्होंने आमने सामने देखा और उनकी आँख के पद्म सखलित हो गये ।

उनकी समझ में आ गई उनकी भावना की कल्पना । उसी में था उनके ऐक्य का रहस्य, उसमें ही था उनके सहचार का कारण, उसी में था उनकी संस्कार-तुषा की भूल ।

शिशु ने धीमे स्वर से कहा, “सखीरी ! मुझे अब सब वस्तुएँ हस्त प्रकार समझ में आ रही हैं जिस प्रकार सूर्य निकलने पर सब वस्तुएँ स्पष्ट दिखाई देने लगती हैं । भावना की उत्तरोत्तर सिद्धि में ही छिपा

है आविभक्त आत्मा का निर्वाण पथ । भावना—बनी हुई है और बनी रहेगी तब तक ही अपनी विजय है ।

“आनंद और विलास, विषय और वैभव, ये तो एक मात्र सामग्री है अपने यज्ञ की जैसे जैसे सामग्री जलेगी वैसे ही वैसे अपने जीवन यज्ञ की गगनगामी ज्वाला उड़ती रहेगी जल कर भगम हो जाँगा तभी फैलेगी अमरावती की सुवास, सखी री !”

और हर्डरकुल्म में शिशु के हाथ में जिस विश्वास से हाथ रखा था उसी विश्वास से सखी ने आज भी रखा ।

और उनको दिखाई दिया गुजरात के एक पुत्र का विजय-प्रस्थान, और शुष्क तथा छोटे से शरीर का भयंकर प्राचल्य । वह करोड़ प्राणियों का प्राण था और या उनकी आशाओं का केन्द्र । उन्होंने विश्राव के लिये तरसते हुए उस बीर को, आर्यावर्त के पुरातन संसार की मूर्ति बन कर, संसार को मुक्ति मंत्र का पाठ पढ़ाते हुए देखा, और सुना शृंखला बद्ध लोक-संग्रह । शतादियों की पराधीनता की वेदना भुला कर वे उसकी पदध्वनि आशा से सुनने लगे ।

और उन्होंने देखा गुजरात का नर सर्वेष्व त्यागी समरांगण में कूदने के लिये तत्पर, कारावास का स्वागत करता हुआ, मृत्यु के मुँह में जाने के लिये निर्भय । जहाँ वह जाता वहाँ त्याग, स्वातंत्र्य और तप की भावनायें उसका अनुसरण करतीं । इसने जीवन को एक बालकीड़ा मान रखा था इसने दुःख को समझ रखा था एक महान्‌सुख । यह खड़ा था ज्वाला सुखी पर पैर रखते हुए—इससा हुआ और उत्साहमय ।

और किर देखी इसकी सुकुमार, कौड़ी से भी शर्मीली, पृथ्वी पर पैर रखते ही कौपने वाली कामिनी, गली गली में अकेलो खड़ी खड़ी राष्ट्रधर्म की रक्षा करती राष्ट्रसमरांगण में निःड़ होकर मार खाती हुई, अन्यायियों के हाथ से राष्ट्रधर्वज छीनती; काराग्रह की कूरता का इसने सुख से स्वागत करती; पति और पुत्र से भी श्रद्धेश को अधिक प्रिय समझती—आर्वांचीन चरणी की तरह ।

और देखे इसके बालक विजयघोष से गगन को गुंजाते हुए ; राष्ट्रध्वजा का फरफराहट के साथ नाचते हुए, स्वदेश द्वंधियों को फटकारते हुए, पालने में पड़े पड़े भी यही धारा करते हुए कि— “इन्कलाच जिन्दाबाद !”

और देखी लाखों की प्रजा सत्याग्रह की धुन में मस्त, युद्ध की चुनौती देती हुई, दिशाओं को गुंजाती हुई; निःशब्द पर निःदर, शब्द-धारियों की बीरता पर पानी फेरती हुई और स्वातन्त्र्य का अधिकार सिद्ध करती हुई, महात्मा-प्रेरित मुक्ति की एक मात्र अभिलाषा से विहृत।

“मून सखी !” शिशु ने कहा, “यह स्वदेश स्वातन्त्र्य की ललकार हुई ! देख, देख, सखी, यह चली, विजयी, आर्यवंत की आत्मा सदृश, सत्य की सजीव मूर्ति—पाशब तूफान में मस्त, विश्रह विलासी पृथ्वी को आर्यवंत का आवाहन देती हुई, आत्म बल से जो आभय है ऐसे वीरों को निमन्त्रण देती हुई।

“देख, देख, प्रिय, मेरी नाद हो रहा है ; और गरज रही है देव की हुंदुभी स्वातन्त्र्य के समरागण में; सखी ! हमारा गुजरात गरज ने लगा। हिन्द काँप रहा है, विजय की महेञ्चा से देख, देख ! प्राणियों के नयनों में जल रही है स्वातन्त्र्य की भिजाभिलाती हुई ज्योति !”

“हा नाथ ! हा नाथ !” सुकुमार सखी ने कहा, “सुख सर्वस्व समर्पण में ही है। चल, मेरे शिशु, विश्वर्जन के इस संग्रह में, एक तीव्र आकांक्षा से अपने को केसरिया रँग में रँग लें। माता की मुक्ति के लिये मर जाये वह मातृ भक्त ; और जीते जी जो मूल्य का आलिंगन करेगा वही उद्धार करेगा हमारे आर्यवंत का।

और दोनों जने भावना सिद्ध यर्थे, हाथ में हाथ, हाल कर संग्राम की बलिचेदी की ओर में आग्रसर हो रहे हैं—अमर आग्रसर हो रहे, एक दिन सम्म वेदी की ओर उसी तरह।